॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

८२

महाकविश्रीमदश्वघोषविरचितं

बुद्धचरितम्

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेतम्

(द्वितीयो भागः)

संस्कृत पद्यरचनाकार तथा व्याख्याकार-
व्याकरणाचार्य-काव्यतीर्थ-

महन्त श्री रामचन्द्रदास शास्त्री

अध्यक्ष, संस्कृत विश्वपरिषद्-शाखा, जबलपुर (मध्यप्रदेश)

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

१९७७

प्रकाशकः—
चौखम्बा विद्याभवन
चौक, (बनारस स्टेट बैंक भवनके पीछे)
पो० बा० ६६, वाराणसी–२२१००१

द्वितीय संस्करण १९७७

मूल्य रु- ०

अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन, पो० बा० १२९
वाराणसी–२२१००१

मुद्रकः—
चौखम्बा मुद्रणालय
वाराणसी–२२१००१

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

82

MAHAKAVI ASHVAGHOSA'S

BUDDHA-CHARITA

(Part II, Cantos XV–XXVIII)

RECONSTRUCTED IN SANSKRIT VERSES

With

ANNOTATION IN HINDI

By

Mahanta Sri Ramchandra Das Shastri

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

1977

(Publishers & Oriental Book-Sellers)

P. Box 69, (Behind the Benares State Bank Building)

Chowk, Varanasi-221001

Phone : 63076

Second Edition

1977

Price Rs. 8-00

Also can be had of

The Chaukhamba Surabharati Prakashan

Post Box No. 129

K. 37/117, Gopal Mandir Lane, Varanasi.

द्वित्राः शब्दाः

बुद्धचरितं नाम भगवतो बुद्धस्य विशुद्धं जीवनवृत्तमस्ति। पुरा किल महाकविनाश्वघोषेण सुललितं काव्यं कलितमासीत्। तस्य भागद्वयमासीत्। पूर्वार्धमुत्तरार्धञ्चेति। तत्र पूर्वार्धं मूलं चतुर्दशसर्गात्मकं सर्वत्रोपलभ्यते। केवलं प्रथमसर्गस्य सप्त श्लोकाः (१-७) चतुर्दशसर्गस्य एकाशीतिश्लोकाः (३१-११२) नोपलभ्यन्ते तेऽपि मया रचितास्तत्र द्रष्टव्याः। उत्तरार्धं तु यत्र भगवतो बुद्धस्य बोधाधिगमादापरिनिर्वाणं वृत्तमस्ति तदत्र भारते न प्राप्यते। किन्तु तिब्बतीयभाषायां चीनीभाषायाञ्च तस्य भावानुवादोऽविकलः सुरक्षितो वर्तते।

यद्यपि देशद्वयेन सह भारतस्य सांस्कृतिको व्यापारिकश्च सम्बन्धः सुदीर्घकालात्सुदृढ आसीत्। तथापि प्रतिवेशिदेशे विद्यमानं तच्चरितमद्यावधि न केनापि भारतीयेन संस्कृतभाषायामानीतमिति हास्यास्पदमस्माकं कृते।

आक्सफोर्डविश्वविद्यालयस्य संस्कृताध्यापकेन जोन्स्टनमहोदयेन तिब्बतीयभाषातश्चीनीभाषातश्चांग्लभाषायां तस्य भावानुवादः कृतः। तदनुसृत्य श्रीसूर्यनारायणचौधरीमहोदयेन हिन्दीभाषायामनूदितम्। अस्त्विदं चरितं भगवद्बुद्धानुरागेण यथामति संस्कृतपद्यमयं काव्यं मया व्यरचि। एवं भारतस्य ज्ञानगौरवं साहित्यवैभवञ्चैतावन्तं कालं विदेशे यापयित्वा पुनः स्वजन्मस्थानं भारतं स्वकलेवरं संस्कृतञ्च समासाद्य वर्धयत्यस्माकमानन्दसन्दोहम्।

भगवन्तं बुद्धं प्रति मे मनसि सुरूढा प्रच्छन्ना श्रद्धासीत्। तदद्य जागृताभवत्। अत एवेदं चरितं लिखितुमारब्धम्। विष्णोरवतारोऽयं भगवान् बुद्धः। यथा भागवते :—

देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां,
पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः।
लोकान् घ्नतां मतिविमोहमतिप्रलोभं,
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम्॥ इति।

(भा० २-७-३७)

अतोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति मया परिश्रमः कृतः।

श्रीमता गुरुवर्येण वैद्यनाथचतुर्वेदिना साहित्याचार्येण संशोधितमिति तेषामत्यन्तमनुगृहीतोऽस्मि। श्रीमतो राजेन्द्रसिंहव्योहारस्य कृतज्ञोऽस्मि। येन लिखितुमहं प्रेरितस्तथा तेनैवास्य भूमिकापि लिखिता। स्वस्तिमन्तं हृषीकेशपाण्डेयं प्रत्यनुकम्पितोऽस्मि, येन महता परिश्रमेण सुवाच्याक्षरेण लिखित्वा मुद्रणयोग्यं सम्पादितम्। इत्यलम्।

बुद्धानुरागादनुगम्य तस्य,
शास्त्रञ्च लोकस्य हिताय शान्त्यै।
काव्यं कृतं ज्ञापयितुं निजस्य,
कलां न काव्यस्य च कोविदत्वम्॥

—राम चं० दासः शास्त्री

द्वित्राः शब्दाः

(हिन्दी अनुवाद)

यह बुद्ध-चरित भगवान् बुद्ध का विशुद्ध जीवन-वृत्तान्त है। पूर्व काल में महाकवि अश्वघोष ने इसको सुललित काव्य में लिखा था। उस (काव्य) के दो भाग थे—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध। उनमें पूर्वार्ध का मूल चौदह सर्ग तो सब जगह मिलता है। केवल प्रथम सर्ग के प्रारम्भ के सात श्लोक और चौदहवें सर्ग के अन्त के इक्यासी श्लोक नहीं मिलते हैं, जिनकी रचना मैंने कर दी है और जो प्रथम भाग में यथास्थान छपे भी हैं। उत्तरार्ध, जिसमें भगवान् बुद्ध की बोधप्राप्ति से निर्वाण पर्यन्त वृत्तान्त है, भारत में नहीं मिलता है। किन्तु तिब्बती और चीनी भाषाओं में उसका समग्र अनुवाद सुरक्षित है।

यद्यपि भारत का चीन के साथ सांस्कृतिक तथा व्यापारिक सम्बन्ध दीर्घ काल से सुदृढ़ है, तथापि पड़ोसी देश में इसके विद्यमान होने पर भी इस चरित को पुनः संस्कृत भाषा में बद्ध करने की ओर आज तक किसी ने ध्यान नहीं दिया, यह हमारे लिये उपहास का विषय है।

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत अध्यापक जान्स्टन महोदय ने तिब्बती भाषा तथा चीनी भाषा से अँग्रेजी में उसका भावानुवाद किया है। उसके अनुसार श्री सूर्यनारायण जी चौधरी ने हिन्दी भाषा में उसका अनुवाद किया। वही यह बुद्धचरित, भगवान् बुद्ध में अनुराग के कारण, मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार संस्कृत पद्यों में रचा है। इस प्रकार यह भारत का ज्ञानगौरव और साहित्य-वैभव इतना काल विदेशों में बिताकर पुनः अपनी जन्मभूमि भारत तथा अपने शरीर संस्कृत को प्राप्त कर हमारी आनन्दपरम्परा बढ़ा रहा है।

भगवान् बुद्ध के प्रति मेरी जो गूढ़ एवं छिपी श्रद्धा थी, उसके आज जागृत हो जाने के कारण ही इस चरित को मैंने लिखा है। भगवान् बुद्ध विष्णु के अवतार हैं। जैसा कि भागवत में लिखा है :—

जब वेद मार्ग का अवलम्ब लेकर देवताओं के शत्रु दैत्य गण भी मय दानव से रचित अदृश्य वेग वाले नगरों (त्रिपुरों) से लोगों का विनाश करने लगेंगे, तब भगवान् विष्णु लोगों की बुद्धि में मोह एवं लोभ उत्पन्न करने वाला वेष धारण करके बुद्ध के रूप में अवतार लेंगे और बहुत से उपधर्मों का उपदेश करेंगे। (भा० २-७-३७)।

अतः यह चरित ध्येय और ज्ञेय है। इसलिये मैंने परिश्रम किया है।

श्रीमान् गुरुवर्य श्री वैद्यनाथ चतुर्वेदी साहित्याचार्य ने इसका संशोधन किया है। मैं उनका हृदय से अनुगृहीत हूँ। श्रीमान् राजेन्द्र सिंह व्योहार का बड़ा कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने इसके लिखने की प्रेरणा दी और उन्होंने इसकी भूमिका भी लिखी है। स्वस्तिमान् हृषीकेश पाण्डेय पर अनुकम्पित हूँ, जिन्होंने महान् परिश्रम से इसे सुवाच्य अक्षरों में लिखकर छपने योग्य बनाया है।

बुद्ध के प्रति अनुराग से उन्हीं के शास्त्रों का अनुसरण करके लोक के हित के लिए तथा शान्ति के लिये यह काव्य मैंने लिखा है, अपनी कला और पाण्डित्य बताने के लिये नहीं।

—रा० चं० दास

भूमिका

बुद्धचरित अश्वघोष की महान् काव्य कृति है। मूल बुद्धचरित में अट्ठाइस सर्ग थे। किन्तु संस्कृत में केवल चौदह सर्ग प्राप्त हैं जिनका उद्धार डा० जान्स्टन ने किया था। बाकी पन्द्रह सर्ग तिब्बती भाषा में प्राप्त हैं। उन्हीं के आधार पर डा० जान्स्टन ने अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया है जिससे अश्वघोष का कुछ आभास मिलता है।

किन्तु जो आनन्द मूल ग्रन्थ में आता है वह अनुवाद में प्राप्त नहीं हो सकता। यदि मूल प्राप्त नहीं है तो कम से कम उसके समकक्ष संस्कृत में उसकी रचना हो जावे तो मूल काव्य का कुछ न कुछ आनन्द अवश्य प्राप्त हो सकता है। इस विचार से मैंने पूज्य स्वामी रामचन्द्र दास जी शास्त्री से प्रार्थना की, कि यदि वे इसका संस्कृत पद्यानुवाद कर दें तो वड़ा उपकार होगा। मेरी प्रार्थना को स्वीकार करके उन्होंने वड़े परिश्रम से यह पद्यमय रचना प्रस्तुत कर दी जो पाठकों के सामने प्रस्तुत है।

इस अनुवाद को अश्वघोष के मूल के समकक्ष वनाने का उन्होंने यथासाध्य प्रयत्न किया है। अश्वघोष के बुद्धचरित का चौदहवाँ सर्ग बुद्धत्व-प्राप्ति में समाप्त होता है। उसके वाद के सर्गों में क्रमशः बुद्ध का काशीगमन, शिष्यों को दीक्षा-प्रदान, महाशिष्यों को प्रव्रज्या, अनाथपिण्डद को दीक्षा, पितापुत्र-समागम, जेतवन-स्वीकृति, प्रव्रज्या-स्रोत, आम्रपाली के उपवन में आयुनिर्णय, लिच्छवियों पर कृपा, निर्वाणमार्ग, महापरिनिर्वाण, निर्वाण-प्रशंसा, धातुविभाजन, शीर्षक विषय वर्णित हैं।

इस भाग में भगवान् बुद्ध के सिद्धान्तों का अधिक विवेचन मिलता है। शास्त्री जी ने उनका संस्कृत में अनुवाद कर मौलिक बुद्धचरित का आनन्द प्रदान किया है। बुद्ध ने काशी में जाने का कारण बताते हुये कहा था कि मैं धर्म की भेरी

बजाने के लिये काशी जा रहा हूँ। यह यात्रा न सुख के लिये है न यश के लिये है, केवल आर्तों के त्राण के लिये है :—

भेरीं नादयितुं धर्म्यां काशीं गच्छामि साम्प्रतम् ।
न सुखाय न यशसे चार्तत्राणाय केवलम् ॥
(१५-१०)

शास्त्री जी ने अधिकतर अनुष्टुप् छन्दों का ही प्रयोग किया है। किन्तु सर्ग के अन्त में संस्कृत काव्य-पद्धति के अनुसार वसन्ततिलका आदि छन्दों का भी प्रयोग किया है जैसे—

अहिनरसुरलोके धर्मचक्रं यदेवं,
त्रिभुवनसुखशान्त्यै चाशु शुभ्रं चचाल ।
भुवि दिशि दिवि देवा भूतसङ्घाश्च सर्वे,
सह कुसुमनिपातैर्नृत्यगीतश्च चक्रुः ॥
(१५-६७)

शिष्यों को दीक्षा प्रदान करते समय बुद्ध कहते हैं—'यह जगत् वितर्क रूपी ईंधन से और मोह रूपी धुआँ से घिरा हुआ है तथा रोष रूपी अग्नि से परवश होकर जल रहा है':—

वितर्केन्धनजातेन मोहधूमावृतेन च ।
दोषाग्निना त्विदं विश्वं विवशं परिदह्यते ॥
(१६-३९)

महाशिष्यों की प्रव्रज्या ग्रहण करके शिष्य जिस स्थिति को प्राप्त हुए हैं उसका वर्णन गीता से मिलता-जुलता है। वह शत्रु और मित्र दोनों में एक समान और सब प्राणियों के हित में निरत होकर तथा मानस रोगों से मुक्त होकर आत्माराम हो गया:—

समः शत्रौ च मित्रे च सर्वभूतहिते रतः ।
मुक्तमानसरोगोऽसावात्मारामो बभूव ह ॥
(१७-३६)

अनाथपिण्डद को दीक्षा देते समय बुद्ध कहते हैं—'मिथ्या दृष्टि और गुणों से बद्ध होकर तत्त्व न जाननेवाला व्यक्ति नष्ट हो जाता है, किन्तु जितात्मा और रजोगुण से मुक्त पुरुष निर्मल पद पाता है' :—

मिथ्यादृष्टिगुणैर्बद्धश्चातत्त्वज्ञो विनश्यति ।
जितात्मानो रजोमुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।
(१८-१७)

जब बुद्ध भगवान् ने भिक्षुक के वेश में अपने पिता की नगरी में प्रवेश किया उस समय जो करुण दृश्य उपस्थित हुआ उसका वर्णन १९वें सर्ग में किया गया है। बुद्ध ने अपने पिता शुद्धोधन को समझाते हुये कहा कि मैं आपके भाव को जानता हूँ, आपके वात्सल्य को भी पहचानता हूँ; किन्तु अब आप पुत्रानन्द को छोड़कर धर्मानन्द को ग्रहण कीजिये :—

राजन् जानामि ते भावं पुत्रवत्सल मा शुचः ।
पुत्रानन्दं परित्यज्य धर्मानन्दः प्रगृह्यताम् ।।
(१९-१७)

श्रावस्ती में प्रवेश करने पर अनाथपिण्डक ने अपना जेतवन विहार के लिये प्रदान कर दिया। उस समय राजा को बुद्ध ने उपदेश दिया—'मोहरूपी समुद्र में, वासनारूपी लहरों के बीच जन्मरूपी जल में लोग डूब रहे हैं। वे वीर्य और सुमति रूपी पतवारों से नौका द्वारा तर सकते है'।

(बुद्ध २०-५८)

इक्कीसवें सर्ग में वर्णित है कि किस प्रकार सभी श्रेणी के लोगों ने सामूहिक रूप से बौद्ध-धर्म की दीक्षा ग्रहण की। नगर और वनवासियों ने भी बौद्ध-धर्म स्वीकार किया :—

जङ्गाली नागरश्चैव क्रूरकर्मा च कालकः ।
कुम्भीरश्च तथैवैते बौद्धं धर्मं प्रजग्रहुः ।।
(२१-२३)

आम्रपाली का आत्मसमर्पण बुद्धचरित्र की अद्भुत घटना है। जब बुद्ध श्रावस्ती में निवास कर रहे थे, तब आम्रपाली ने उनसे भिक्षा ग्रहण करने की

प्रार्थना की—'आप अपने लक्ष्य को प्राप्त कर चुके हैं और संसार-सागर को तर चुके हैं अतः मेरे धर्मलाभ के लिये मेरी भिक्षा सफल कीजिये' :—

लब्धलक्ष्यो हि देव त्वं सन्तीर्णभववारिधिः।
धर्मलाभाय मे साधो मद्भिक्षां सफलां कुरु॥
(२२-५३)

उन्होंने बुद्धशील का जो सुन्दर उपदेश दिया वह २३ वें सर्ग में ग्रथित है। चराचर विश्व का आधार जिस प्रकार वसुन्धरा है उसी प्रकार शील सब गुणों का आधार है :—

चराचरस्य विश्वस्य यथाधारो वसुन्धरा।
निखिलानां गुणानाञ्च तथा शीलं शुभाश्रयः॥
(२३-१८)

लिच्छवियों को बुद्ध भगवान् ने जो उपदेश दिया वह एकता और आपसी संगठन का सन्देश था। उसके अन्त में उन्होंने कहा कि मेरे इस ज्ञान रूपी दीपक से तुम्हारे अन्दर का अन्धकार उसी प्रकार नष्ट हो जावेगा जिस प्रकार दीपक से लोगों के घरों का अन्धकार नष्ट होता है :—

अनेन ज्ञानदीपेन नश्यत्यन्तस्तमो ननु।
प्रदीपेन च लोकस्य यथा गेहगतं तमः॥
(२४-२३)

वैशाली से प्रस्थान करने के वाद बुद्ध ने अपना परिभ्रमण जारी रखा और कुशीनगर की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में चुन्द नामक शिष्य के यहाँ भोजन किया। कहते हैं कि उसने भोजन में विष मिला दिया था। उपवन में पहुँचकर बुद्ध ने आनन्द से कहा कि शाल के वृक्षों के बीच में मेरी शैय्या विछाओ। मैं निर्वाण प्राप्त करना चाहता हूँ। उस समय शिष्यों की जो मनोदशा हुई उसका वर्णन २५ वें सर्ग में किया गया है।

अंतिम उपदेश को बुद्धचरित में इस प्रकार व्यक्त किया गया है—'आलस्य-रहित होकर तथा पराक्रम का आधार लेकर श्रेय का आचरण करो। हवा के बीच में स्थित दीपशिखा के समान जीवन चञ्चल है' :—

अतो निरालसो वीर्यमाधाय श्रेय आचर।
प्रवातस्थस्य दीपस्य शिखावज्जीवनं चलम् ।।
(२५-८०)

अपनी अन्तिम शैय्या से भी भगवान् बुद्ध धर्म का उपदेश करते रहे। अन्त में सुभद्र नामक एक व्यक्ति दीक्षा लेने आया। आनन्द ने बुद्ध की अंतिम अवस्था देखकर रोकना चाहा किन्तु बुद्ध ने नहीं माना। उनके उपदेश को सुनकर सुभद्र ने सोचा कि गुरु की मृत्यु का दर्शन करना उचित नहीं, अत: उनके पहले मैं निर्वाण प्राप्त करूँगा। बुद्ध ने कहा कि यह मेरा अन्तिम शिष्य मुझसे भी वढ़कर निकला और फिर से आनन्द को उपदेश दिया। वह उपदेश २६ वें सर्ग में ग्रथित है। यह सर्ग शायद सवसे लम्वा है। इसी में बुद्ध के महानिर्वाण का शोकजनक वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है कि जिस प्रकार बिना चन्द्रमा के आकाश प्रभाहीन हो जाता है, हिम के द्वारा कमल नष्ट हो जाता है, तथा धन के विना विद्या विफल हो जाती है, उसी प्रकार मुनि के विना जगत् अनाथ हो गया।

२७ वें सर्ग में बुद्ध एवं उनके उपदेशों की प्रशंसा की गई है। इनके अन्तिम अग्निसंस्कार का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जिसने संसार-समुद्र को सोख लिया और दोषरूपी महावन को जला डाला उसी की काया को अग्नि ने भस्मसात् कर दिया :—

भवाब्धिः शोषितो येन दग्धं दोषमहावनम् ।
तथापि तस्य गात्रं हि, वह्निना भस्मसात्कृतम् ।।
(२७-८२)

जिसने समग्र जीवन शान्ति का उपदेश दिया उनके निर्वाण के बाद उनकी अस्थियों के सम्वन्ध में राजाओं में संघर्ष होना एक विपरीत बात हुई। किन्तु वाद में सवने शान्त होकर उनका आपस में विभाजन कर लिया और अपने-अपने स्थानों पर स्तूपों का निर्माण किया। उनसे सारा देश प्रेरणा ग्रहण करता रहा। इस पर कवि की उक्ति चरितार्थ है। जिसने दीनों का उद्धार किया तथा

धर्ममार्ग का शोधन किया, लोकहित में निरत उन बुद्ध का अर्चन कौन कृतघ्न न करेगा ?

दीनाः समुद्धृता येन, मार्गो धर्मस्य शोधितः ।
कृतज्ञाः किन्न चार्चन्तु, बुद्धं लोकहिते रतम् ॥

(२८-७४)

कवि ने अपना उद्देश्य बतलाते हुए अन्त में कहा है :—'बुद्ध के प्रति अनुराग से उनके शास्त्र का अनुगमन कर लोकहित और शान्ति के लिये मैंने यह काव्य लिखा है, न कि अपनी काव्यकला प्रदर्शित करने के लिये' :—

बुद्धानुरागादनुगम्य तस्य,
शास्त्रं च लोकस्य हिताय शान्त्यै ।
काव्यं कृतं ज्ञापयितुं निजस्य,
कलां न काव्यस्य च कोविदत्वम् ॥

(२८-७८)

प्रश्न हो सकता है कि बुद्ध ने नई बात कौन सी कही ? पहले तो उन्होंने शरीर को कष्ट पहुँचा कर सिद्धि प्राप्त करने को आदर्श न मानकर निर्वाण-प्राप्ति को ही चरम लक्ष्य बतलाया । उन्होंने कहा—'जो लोग अपने प्रिय बन्धुओं को छोड़कर स्वर्ग के लिये प्रयत्न करते हैं, फिर-फिर दूसरे बन्धनों में पड़ते हैं और जो शरीर को कष्ट देकर अपनी कामनाओं की पूर्ति के लिये प्रयत्न करते हैं वे दुःख के द्वारा फिर दुःख ही को पाना चाहते हैं' ।

(७-२१-२२)

स्वर्ग में कामनाओं की पूर्ति होती है किन्तु वे तो कामनाओं ही को बन्धन का मूल मानते थे । शरीर को कष्ट देकर फिर उन्हीं कष्टदायिनी कामनाओं को चाहना मानों दुःख ही का वरण करना हुआ । उनका तर्क था कि यदि शरीर-पीड़ा ही धर्म है और सुख प्राप्त करना अधर्म है तो फिर धर्म से सुख की प्राप्ति क्यों चाहते हो, फिर तो धर्म का फल अधर्म ही हुआ न ?

(७-२६)

योगशास्त्र में कहा ही है कि आहारशुद्धि से सत्त्वशुद्धि हो जाती है। बुद्ध कहते हैं कि यदि ऐसा होता तो जंगल के पशु-पक्षी भी पुण्यवान् हो जाते।

(७-२८)

यदि केवल पानी में नहाने से शुद्धि हो जाती है तो फिर मछलियों की मुक्ति हो जाती। यह तो केवल मन को संतोष कर लेना है। केवल स्नान से कोई पवित्र नहीं होता (७-३०)। असल में गुण ही तीर्थ का सार है न कि पानी। पानी तो पानी ही है। उससे पापनिवृत्ति नहीं होती।

(७-३१)

मतलब यह कि बाह्याचार को बहुत महत्त्व दिया गया था उसकी बुद्ध ने निंदा की। श्रीकृष्णजी ने भी द्रव्ययज्ञ की महत्ता कम कर ज्ञानयज्ञ को महत्त्व दिया था और इन्द्रयज्ञ को रोककर गोयज्ञ चलाया था। उसी परम्परा को आगे बढ़ाकर बुद्ध और महावीर ने हिंसक यज्ञों को रोका और साथ ही बाह्याचारों की भी निन्दा कर आगे के कबीर आदि सुधारकों का मार्ग प्रशस्त किया। कबीर ने तो और भी कड़े शब्दों में इन सब की निन्दा की है :—

क्या है तेरे न्हाई धोई। आतमाराम न चीन्हा सोई॥

तथा :—

क्या घट ऊपरि मंजन कीयें, जो मन मैल अपारा।

डा० राधाकृष्णन् ने अपने ग्रंथ 'इण्डियन फिलासफी' में बतलाया है कि नीतिवाद और ईश्वरवाद को एक साथ मिला देने ही के कारण संसार में सब धार्मिक गड़बड़ियाँ उत्पन्न हुई हैं। उन्होंने बौद्ध धर्म की विशेषता बतलाते हुए लिखा है कि बुद्ध ने यह प्रतिपादन किया कि बिना किसी व्यक्तिगत ईश्वर पर विश्वास किये मनुष्य सद्‌गुणों का आचरण कर सकता है। और कोई दूसरा नीति-शास्त्र इतना विश्वव्यापी कल्याण का सन्देश नहीं देता। बुद्ध के समान कल्याण-मार्ग की इतनी उच्चता का वज्रनिनाद किसी दूसरे ने हमारे कानों में नहीं सुनाया।

उन्होंने बौद्ध धर्म के प्रचार के मुख्य तीन कारण वतलाये हैं ।

१. बुद्ध की मानवीय अपील

२. उनका धर्म-नियम का उपदेश

३. उनका विश्वबन्धुत्व का उपदेश

बुद्ध के नैतिक नियम के सम्बन्ध में अमेरिका के प्रसिद्ध लेखक एडमन्ड होम्स ने लिखा है :—

महान् उपदेशक सदा ही सुधारक और उन्नायक हुआ करता है । बुद्ध इसी प्रकार के महान् उपदेशक थे । उन्होंने हमारे सामने ऐसा धर्म-नियम रक्खा है जो संसार के स्वाभाविक नियम के बिल्कुल ही समकक्ष बैठता है । आधुनिक विज्ञान ने जिस विश्वव्यापी नियम की खोज की है वह है :—

१. प्रकृति में नियम का एक राज्य है ।

२. प्रकृति का नियम एक और उच्च नियम के अधीन है और वह है— विकास का नियम । बुद्ध ने इस बात का अनुभव किया, जैसा कि पहले किसी ने नहीं किया था कि आत्मा एक जीवित जाग्रत वस्तु है । और इसलिये वह इस नियामक विकास के अनुकूल है । उन्होंने वतलाया कि यदि हम अपने जीवन को प्रकृति के कुछ मौलिक नियमों के अनुकूल वना लें तो हम अपनी आत्मा का विकास कर सकते हैं ।

(दि कोड आफ बुद्ध)

महात्मा गांधी तो कहते हैं कि बुद्ध ने संसार को कोई नया धर्म नहीं दिया बल्कि धर्म को नया अर्थ दिया । उन्होंने हमें जीवन लेने के वदले जीवन देना वतलाया । असली वलिदान दूसरों का नहीं किन्तु अपना है । हिन्दू धर्म वेदों पर प्रहार नहीं सहन कर सकता इसलिये उसने बुद्ध धर्म के केन्द्रिय सत्य को स्वीकार कर लिया किन्तु बाहरी आकार को त्याग दिया । कुछ लोग कहते हैं कि भारत का पतन बुद्ध धर्म स्वीकार करने से हुआ किन्तु मेरा दृढ़ विश्वास है कि उसका पतन इसलिये हुआ कि वह बुद्ध के उपदेशों को अपने जीवन में उतार नहीं सका । मेरी समझ में बुद्ध ने भारत के प्राचीन आध्यात्मिक तत्त्व का ही समर्थन

किया है किन्तु एक नये ढंग से उसमें भ्रातृभाव, समता और जीवों के प्रति प्रेम-भावना को जोड़ दिया है। अश्वघोष ने ठीक ही कहा है :—

प्रज्ञाम्बुवेगां स्थिरशीलवप्रां
समाधिशीतां व्रतचक्रवाकाम्।
अस्योत्तमां धर्मनदीं प्रवृत्तां
तृष्णार्दितः पास्यति जीवलोकः॥ (१-७१)

बुद्ध का सबसे महान् सिद्धांत यही था कि मनुष्य को केवल अपने कल्याण से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये, वरन् विश्व-कल्याण के लिये प्रयत्नशील रहना चाहिये। इसी उपदेश को उन्होंने अपने शिष्य आनन्द को संक्षिप्त रूप से सुनाया था—आत्म-कल्याण और जगत्-हित के लिये प्रयत्न करो :—

प्रयतस्वात्महिते जगद्धिते च।

उनकी दूसरी विशेषता यह थी कि उन्होंने अपने उपदेशों को बुद्धि के आधार पर स्थापित किया और शिष्यों से कहा कि सोने के समान परीक्षा करके उनको ग्रहण किया जाय, न कि उनके आदर के कारण :—

तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डिताः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं गुणतो न तु गौरवात्॥
(ज्ञानसारसमुच्चय)

इसीलिये उन्होंने अन्तिम उपदेश में कहा था कि सबको स्वयं ही अपना दीपक बनना चाहिये। किसी दूसरे की शरण न जाकर स्वयं आत्मा की शरण जाना चाहिये। सब लोगों को आलस्यहीन होकर इस धर्म का सम्पादन करना चाहिए क्योंकि सारे संस्कार अनित्य और नाशवान् हैं :—

अत्तदीपो अत्तसरणा अनन्नसरणा।
वयधम्मा संखारा अप्पमादेन सम्पादेथ॥

नीचे लिखे वाक्य बुद्ध के उपदेश का सार बताते हैं :—

प्रसारय धर्मध्वजम्। प्रत्यय धर्मशंखम्।
प्रताडय धर्मदुंदुभिम्। धर्मं कुरु धर्मं कुरु धर्मं कुरु॥

अश्वघोष का काव्यसौन्दर्य भी कालिदास या वाल्मीकि से किसी प्रकार कम नहीं है। आदिकवि वाल्मीकि की छाया अश्वघोष पर और अश्वघोष की कालि-

दास पर पड़ना स्वाभाविक ही है। तीनों के वर्णनों में हमें बहुत समता मिलती है। उपमा में कालिदास श्रेष्ठ माने जाते हैं किन्तु अश्वघोष की उपमा-उत्प्रेक्षायें भी उनसे किसी प्रकार कम नहीं हैं। कुछ उदाहरण देखिये :—

बुद्ध ने केशसहित अपना मुकुट काटकर उसी प्रकार आकाश में फेंक दिया मानो हंस को तालाब में फेंका हो :—

चिक्षेप चैनं सरसीव हंसम्। (६–५७)

कौशेय वस्त्रों में बुद्ध उसी प्रकार शोभित होते थे मानो संध्या के बादलों से ढके हुए चन्द्रमा हों :—

संध्याभ्रसंवीत इवोडुराजः। (६–६५)

आपके वचनामृत से मानो मैंने स्नान कर लिया :—

समासतः स्नात इवास्मि वाग्भिः। (७–४६)

आँसू बहाते हुए मुखों से भरा राजभवन ऐसा लग रहा था मानो वर्षाकाल में जलस्रावी कमलों से भरा सरोवर हो :—

स्रवज्जलैस्तामरसैर्यथा सरः। (८–२७)

अश्वघोष की सूक्तियाँ भी बड़ी मधुर हैं :—

सुखं हि धर्मस्य वदन्ति मूलम्। (७–१८)
कार्यं तु तद् यत्र पुनर्न कार्यम्। (७–२५)
तस्मादधर्मं फलतीह धर्मः। (७–२६)
चित्ताद्दते काष्ठसमं शरीरम्। (७–२७)
न पावयिष्यन्ति हि पापमापः। (७–३०)
भिन्नः प्रवृत्त्या हि निवृत्तिधर्मः। (७–४८)
स्वर्गं यियासन्ति हि रागवन्तः। (७–५३)
मोक्षं परीप्सन्ति तु सत्त्ववन्तः। (८–२७)

—व्योहार राजेन्द्र सिंह

विषय-सूची

॥ श्रीः ॥

बुद्धचरितम्

(उत्तरार्धम्)

अथ पञ्चदशः सर्गः

बुद्धस्य काशीगमनम्

कृतार्थो लब्धशान्तिः स एकाकी चलितोऽपि सन्।
सुगतो जनसंघातेनानुयात इवाबभौ ॥ १ ॥

॥ पन्द्रहवाँ सर्ग ॥

बुद्ध का काशी गमन

कार्य (तपस्या) पूर्ण कर लेने पर उन्हें शांति प्राप्त हुई। सुगत उस समय यद्यपि अकेले चल रहे थे तथापि ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो उनके पीछे बहुत बड़ा जन समूह चल रहा हो ॥ १ ॥

मार्गे तं भिक्षुणा दृष्ट्वा, केनापि वाक्यमीदृशम्।
ऊचे बद्धकरेणान्तःशुद्धेन शुद्धमानसम् ॥ २ ॥

मार्ग में किसी अन्तःशुद्ध भिक्षु ने विशुद्ध मन वाले उन्हें देखकर हाथ जोड़कर इस प्रकार वचन कहा—॥ २ ॥

अर्हन् ये विषयासक्ता दुर्दान्तकरणानुगाः।
तेषु त्वं जितसंसारो विदितात्मा जितेन्द्रियः ॥ ३ ॥

हे अर्हन्! जो विषयासक्त हैं, जो दुर्दान्त इन्द्रियों के अनुगामी हैं; उनमें आप जितेन्द्रिय संसार को जीतने वाले आत्मवेत्ता हैं ॥ ३ ॥

शान्त्या च शुद्धया कान्त्या पूर्णचन्द्राननस्यते ।
ज्ञायते मधुरं शान्तं बुद्धं तृप्तञ्च मानसम् ॥ ४ ॥

पूर्ण चन्द्रमा के समान मुख वाले आप का मानस, शान्ति एवं उज्ज्वल कान्ति से युक्त मधुर, शान्त, प्रबुद्ध तथा सन्तुष्ट प्रतीत होता है ॥ ४ ॥

ज्ञातज्ञेय इवाभासि तपो विभ्राणतेजसा ।
ईशित्वं करणानां हि नूनं त्वं लब्धवानसि ॥ ५ ॥

तप के देदीप्यमान तेज से तत्त्ववेत्ता की तरह शोभा पा रहे आप, निश्चय ही इन्द्रियों का स्वामित्व लाभ कर चुके हैं ॥ ५ ॥

किं नाम ते गुरोः कस्मात्सिद्धिं प्राप्तोऽसि चोत्तमाम् ।
ब्रूहि सौम्य ! स्वमाहात्म्यमनुकम्पास्ति चेन्मयि ॥ ६ ॥

हे सौम्य ! आपका क्या नाम है ? किस गुरु से यह उत्तम सिद्धि पाये हैं ? यदि मुझ पर अनुकम्पा हो तो अपनी महिमा कहें ॥ ६ ॥

तथा भिक्षुवचः श्रुत्वा भगवान् भक्तवत्सलः ।
उवाच तस्य तुष्ट्यर्थं मितं तथ्यं हितावहम् ॥ ७ ॥

भक्त वत्सल भगवान् भिक्षु का ऐसा वचन सुनकर उसकी तुष्टि के लिए थोड़ा, किन्तु सत्य एवं हितकर वचन बोले—॥ ७ ॥

न गुरुर्मे न सम्मान्यो निन्द्यश्चापि न विद्यते ।
प्राप्तवानस्मि निर्वाणं विद्धि मां धर्मसंप्रभुम् ॥ ८ ॥

न मेरा कोई गुरु है, न सम्माननीय है और न निन्दनीय है। मैंने निर्वाण प्राप्त किया है। मुझे धर्म का स्वामी जानो ॥ ८ ॥

बुद्धं तद्यच्च बोद्धव्यं यच्च नान्येन बुध्यते ।
शत्रुवच्च जिताः क्लेशास्तेन बुद्धं वदन्ति माम् ॥ ९ ॥

जो जानना चाहिए उसे मैंने जाना है, जो कि दूसरे नहीं जान सकते। शत्रु की तरह क्लेशों को जीत लिया है। अतएव लोग मुझे बुद्ध कहते हैं ॥ ९ ॥

भेरीं नादयितुं धर्म्यां काशीं गच्छामि साम्प्रतम् ।
न सुखाय न यशसे चार्तत्राणाय केवलम् ॥ १० ॥

धर्म-भेरी बजाने के लिए इस समय मैं काशी जा रहा हूँ— न सुख के लिए और न यश के लिए, अपितु केवल आर्तों की रक्षा के लिए ॥ १० ॥

क्लेशितान् विविधैः क्लेशैर्लोकान् दृष्ट्वार्द्रचेतसा ।
मोक्षयिष्येऽग्रे विमुक्तेन प्रतिज्ञातं मया पुरा ॥ ११ ॥

विविध क्लेशों से पीड़ित लोगों को देखकर पहिले मैंने प्रतिज्ञा की थी कि प्रथम मैं स्वयं मुक्त हो लूँ फिर इन्हें मुक्त करूँगा ॥ ११ ॥

संचिन्वन्ति धनं ये वै स्वात्मार्थं ते हि दुर्जनाः ।
महतां तु धनं नूनं परार्थायोपकल्पते ॥ १२ ॥

जो स्वार्थ के लिए धन संग्रह करते हैं, वे दुर्जन हैं। महापुरुषों का धन तो निश्चय ही परमार्थ के लिए संचित होता है ॥ १२ ॥

नोद्धरन्ति न ते वीराः प्रवाहपतितं जनम् ।
दातारो न च ते दीनाँस्तर्पयन्ति न ये धनैः ॥ १३ ॥

प्रवाह में वहते हुए प्राणो को जो वाहर नहीं निकाल सकते, वे वीर नहीं हैं तथा जो धन से गरीबों को तृप्त नहीं करते, वे दाता नहीं हैं ॥ १३ ॥

स्वस्थैश्चिकित्सितव्या हि व्याधिग्रस्ताः सुसाधनैः ।
साधुमार्गे नियोक्तव्या मूढाः सुपथगामिभिः ॥ १४ ॥

स्वयं स्वस्थ रहते हुए सुन्दर साधनों के द्वारा व्याधि से पीड़ित प्राणियों की चिकित्सा करनी चाहिए। स्वयं सुमार्ग पर चलते हुए, कुमार्गगामी मूढ़ों को सुमार्ग पर लगाना चाहिये ॥ १४ ॥

यथा प्रज्वलिते दीपे तमो नश्यति तत्क्षणात् ।
बुद्धितत्त्वे प्रदीप्ते च कामभावो न तिष्ठति ॥ १५ ॥

दीपक के प्रज्वलित होते ही अंधकार तत्काल नष्ट हो जाता है। इसी तरह बुद्धि तत्त्व के प्रकाशित होते ही काम भावना नहीं रह जाती है ॥ १५ ॥

काष्ठे वह्निस्तथा वायुर्व्योम्नि वारि भुवि ध्रुवम् ।
उपदेशस्तथा काश्यां गयायां ज्ञानमक्षयम् ॥ १६ ॥

जैसे काष्ठ में अग्नि, आकाश में वायु तथा पृथ्वी में जल का होना ध्रुव है, इसी तरह काशी में उपदेश और गया में ज्ञान प्राप्ति ध्रुव हैं ॥ १६ ॥

ततस्तुष्टमना भिक्षुः प्रशस्य मनसा मुहुः ।
बुद्धं विसृज्य सस्नेहं पश्यन् स्वं मार्गमाददे ॥ १७ ॥

तत्पश्चात् सन्तुष्ट मन भिक्षु मन ही मन भूरि भूरि प्रशंसा करता हुआ, बुद्ध को हाथ जोड़कर, स्नेह पूर्वक लौट लौटकर अनेक बार देखता हुआ, अपने गन्तव्य मार्ग की ओर चल पड़ा ॥ १७ ॥

काशीं ददर्श तां बुद्धस्ततो ज्ञानस्य या खनिः ।
जाह्नवीवरुणाभ्याञ्च, सखीभ्यां मिलितामिव ॥ १८ ॥

तब बुद्ध ने उस काशी नगरी को देखा जो ज्ञान का आकर (खदान) है, तथा गंगा एवं वरुणा दोनों उससे ऐसी मिल रही हैं मानों दो सखियाँ मिल रही हों ॥ १८ ॥

मृगदावं जगामासौ मुनिनां विमलाश्रमम् ।
मयूराधिष्ठितैर्वृक्षैर्वृतं सूर्यसमप्रभम् ॥ १६ ॥

जिन पर मयूर आसीन हैं ऐसे वृक्षों से घिरा हुआ, तथा सूर्य के समान प्रकाशमय मृगदाव को वह मुनि गये जहाँ मुनियों का समुज्वल आश्रम था ॥ १९ ॥

महानामाश्वजिद्बाष्पः कौण्डिन्यो भद्रजित्तथा ।
तत्रत्या भिक्षवः प्रोचुर्बुद्धं प्रेक्ष्य परस्परम् ॥ २० ॥

वहाँ रहने वाले महानाम, अश्वजित्, बाष्प, कौण्डिन्य एवं भद्रजित्—ये पाँच भिक्षु बुद्ध को देखकर परस्पर इस तरह बात-चीत करने लगे—॥ २० ॥

गौतमोऽत्र समायाति नमिष्यामो वयं न तम् ।
नियमाद्विमुखीभूतं तनुपोषणलालसम् ॥ २१ ॥

गौतम भिक्षु यहाँ आ रहा है । हम उसे अभिवादन नहीं करेंगे । शरीर पोषक इन्द्रियारामी वह तपस्या से विमुख हो गया है ॥ २१ ॥

स वदिष्यति पूर्वं चेद् वदिष्यामो वयं ततः।
आतिथ्यमार्यधर्मो हि स्यादतिथिर्यथा तथा ॥ २२ ॥

यदि वह पहिले बोलेगा तो हम भी बोलेंगे। अतिथि-सत्कार करना आर्य धर्म है, अतिथि चाहे जैसा हो ॥ २२ ॥

इत्थं निर्णीतवन्तोऽपि समायान्तं पुरः क्रमात्।
वीक्ष्य तं निश्चयं चक्रुः शिथिलं ते शनैः शनैः॥ २३ ॥

ऐसा निश्चय करने पर भी वे, क्रमशः ज्यों-ज्यों मुनि समीप आये, उन्हें देख देख कर अपना निश्चय धीरे-धीरे शिथिल करने लगे ॥ २३ ॥

प्रणेमुः सहसोत्थाय जगृहुश्च कमण्डलुम्।
भिक्षापात्रं तथा वस्त्रं पाद्यं प्रीत्यासनं ददुः॥ २४ ॥

समीप आने पर, सहसा उठकर वे (सब) उन्हें प्रणाम किये। किसी ने उनका कमण्डलु ग्रहण किया, किसी ने भिक्षा पात्र ग्रहण किया, किसी ने चीवर (मुनि वस्त्र) लिया, किसी ने पैर धोने का जल दिया तो किसी ने बैठने को आसन दिया ॥ २४ ॥

एवं सेवापराँश्चापि शिष्यभावगतानपि।
अत्यक्तगोत्रसंज्ञाँस्तान् कृपयाह तथागतः॥ २५ ॥

इस प्रकार उन्होंने उनकी परिचर्या की और शिष्य भाव को प्राप्त हो गये किन्तु उनका नाम लेकर पुकारना नहीं छोड़ा। तब तथागत उनपर कृपा करते हुए बोले—॥ २५ ॥

पूर्ववन्नार्हथ प्रोक्तुं भिक्षवोऽर्हन्तमित्युत।
पूज्येऽपूज्यपदे प्रोक्ते प्रोक्तुः पापं प्रजायते॥ २६॥

"भिक्षुओ! पहिले की तरह अर्हत् से अनादर पूर्वक न बोलो। पूज्य प्राणी में अपूज्य पद का प्रयोग करने से वक्ता को पाप लगता है ॥ २६ ॥

निन्दास्तुतिसमश्चापि वाग्दोषैर्दूषितानहम्।
आर्यधर्मच्युतान् युष्मान् मोक्तुमिच्छामि कश्मलात्॥ २७॥

यद्यपि मैं निन्दास्तुति में सम हूँ किन्तु आर्य धर्म से विचलित आप लोगों को मोह से बचाना चाहता हूँ ॥ २७ ॥

जगद्धिताय बुद्धो हि बोधमाप्नोति शाश्वतम् ।
अत एव च जीवानां सर्वेषां तु हिते रतः ॥ २८ ॥

जगत् हित के लिए ही बुद्ध शाश्वत बोध प्राप्त करता है। अतएव सब जीवों के हित में रत रहता है ॥ २८ ॥

यो गृह्णाति गुरोर्नाम तस्य धर्मो विनश्यति ।
यथा पित्रोस्तिरस्कारात् संतत्या धर्मसंक्षयः ॥ २९ ॥

जो गुरु को नाम लेकर पुकारता है उसका धर्म नष्ट हो जाता है, जैसे माता-पिता का तिरस्कार करने से सन्तान का धर्म क्षय होता है ॥ २९ ॥

एवं करुणया तेन सारगर्भश्च वाग्विदा ।
उपदिष्टा न ते मोहाज्जगृहुस्तस्य तद्वचः ॥ ३० ॥

इस तरह वागवेत्ता मुनि ने करुणा-पूर्ण चित्त से उन्हें सार गर्भित उपदेश दिया किन्तु मोह के कारण उन्होंने उनका वह उपदेश ग्रहण नहीं किया ॥ ३० ॥

ऊचुश्च गौतम त्वं न तत्त्वं जानासि वै पुनः ।
परित्यक्ततपा यस्मात्तपोलभ्यं हि तत्पदम् ॥ ३१ ॥

और वे बोले हे गौतम ! तुम तत्त्व नहीं जानते हो । तुमने तपस्या त्याग दी है जबकि वह पद तपस्या से लभ्य है ॥ ३१ ॥

एवं तस्य मुनेर्ज्ञाने तान् संदिग्धाँस्तथागतः ।
भिन्नो हि तपसा बोध इत्याह वदतां वरः ॥ ३२ ॥

इसी प्रकार मुनि के ज्ञान में सन्देह रखने वाले उन्हें, वक्ता श्रेष्ठ तथागत ने बताया कि तपस्या से बोध भिन्न तत्त्व है ॥ ३२ ॥

मूढग्राहतपो यश्च विषयान् यश्च सेवते ।
असन्मार्गाश्रितौ तौ द्वौ मोक्षो नैवमवाप्यते ॥ ३३ ॥

जो मूढ़ता के कारण काय-क्लेश रूप तपस्या का हठ करते हैं तथा जो विषय में आसक्त हैं, वे दोनों गलत मार्ग का आश्रय लिये हैं। इस तरह मुक्ति नहीं मिलती ॥ ३३ ॥

क्षीणस्य तपसा पुंसश्चित्तमज्ञस्य मुह्यति।
लोकज्ञानासमर्थं तत्कथं वेत्स्यति तत्परम् ॥ ३४ ॥

जब अज्ञानी पुरुष का शरीर हठाग्रह तपस्या से क्षीण हो जाता है तब उसका चित्त भी मोहित (बेहोश) हो जाता है। उस चित्त से व्यावहारिक ज्ञान भी नहीं हो सकता तो वह परं तत्त्व कैसी जान सकता है ॥ ३४ ॥

प्रकाशेप्सुस्तमो व्यर्थं न जलेनाभिषिंचति।
ज्ञाननाश्यं तदज्ञानं वपुषा न विनश्यति ॥ ३५ ॥

प्रकाश चाहने वाला प्राणी जल से अन्धकार को सींचने का व्यर्थ प्रयास नहीं करता है। ज्ञान से नष्ट होने वाला अज्ञान शारीरिक क्रिया से नष्ट नहीं होता है ॥ ३५ ॥

दारुस्थितो यथा वह्निर्भित्त्वा छित्त्वा न चाप्यते।
युक्त्यैव तु तथा ज्ञानं योगेनैवाधिगम्यते ॥ ३६ ॥

लकड़ी में स्थित अग्नि लकड़ी को चीर-फाड़ कर नहीं अपितु युक्ति से (योग से) प्राप्त की जा सकती है। इसी तरह ज्ञान भी युक्ति (योग) से प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥

कामात्मनां सदाचित्तं रागेण तमसावृतम्।
निरोधेनोपलभ्यं तन्न मार्गमधिगच्छति ॥ ३७ ॥

कामासक्त पुरुषों का चित्त सदा रज और तम से आक्रान्त रहता है अतः निरोध से प्राप्त होने वाले पद (सन्मार्ग) में नहीं लगता ॥ ३७ ॥

अपथ्यं सेवमानस्य रोगो नैव विनिश्यति।
तथा भोगजुषोऽज्ञानरोगनाशः कुतो भवेत् ॥ ३८ ॥

अपथ्य सेवन करने वाले रोगी का रोग नहीं मिटता है। इसी तरह भोगासक्त मनुष्य का अज्ञान रूप रोग कैसे दूर हो सकता है ॥ ३८ ॥

वातेन्धनयुतो वह्निर्दीप्यते न तु शाम्यति।
कामरागाश्रितं चित्तं कथं शाम्यति रागिणाम् ॥ ३९ ॥

वायु और लकड़ी से संयुक्त अग्नि शान्त नहीं होती है अपितु अधिक प्रज्वलित होती है। तो रोगी पुरुषों का काम और राग से संयुक्त चित्त कैसे निरुद्ध (शान्त) हो सकता है ॥ ३९ ॥

तपोभोगौ परित्यज्य मध्यमार्गोऽवलम्बितः।
मया दुःखमधःकृत्य सुखस्यापि परो हि यः ॥ ४० ॥

मैंने तप और त्याग, दोनों का परित्याग करके मध्यम मार्ग का आश्रय लिया है जो दुःख को अधः (अभिभूत) करके सुख से भी परे (ऊपर) है ॥ ४० ॥

सम्यग्दृष्टिरविर्यस्य मार्गस्यास्ति प्रकाशकः।
सम्यक्संकल्परूपस्य रथस्य सुपथो ह्ययम् ॥ ४१ ॥

सम्यक् दृष्टि रूप सूर्य इस मार्ग का प्रकाशक है तथा सम्यक् संकल्प रूप रथ इसी सुन्दर मार्ग पर चलता है ॥ ४१ ॥

नानोपदेशरम्यायां सम्यग्वाण्यां विरम्यते।
सम्यक्कर्मान्तनिष्कूटे विहारी विमलाशयः ॥ ४२ ॥

विमल आशय वाला वह मार्ग अनेक उपदेशों से रम्य सम्यग् वाणी में विश्राम करता है, सम्यक् कर्मान्त रूप उपवन में विहार करता है ॥ ४२ ॥

सम्यगाजीविका त्वस्य भोजनं चाप्यनामयम्।
सम्यग्व्यायामभृत्योऽसौ चक्रवर्ती च सर्वगः ॥ ४३ ॥

सम्यक् आजीविका ही इसका अनामय (दोष रहित) भोजन है। सम्यक् व्यायाम (प्रयत्न) ही इसके सेवक हैं। यह सर्वगामी चक्रवर्ती (सब साधन का राजा) हैं ॥ ४३ ॥

सम्यक्स्मृतिपुरे रम्ये शश्वच्छान्ति निगच्छति।
सम्यक्समाधिशय्यायां शेतेऽसौ सुसमाहितः ॥ ४४ ॥

सम्यक् स्मृति रूप मनोहर नगर में अक्षय शान्ति पाता है और यह मार्ग सम्यक् समाधि रूपी शैया पर समाधान पूर्वक सोता है ॥ ४४ ॥

आष्टाङ्गिकस्त्रिलोकेषु मध्यमार्गस्तु विश्रुतः।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखाद्येन विमुच्यते ॥ ४५ ॥

यह मध्यम मार्ग, तीनों लोकों में अष्टांग योग से विख्यात है। इसके साधन से लोग जन्म मृत्यु जरा व्याधि रूप दुःख से छूट जाते हैं ॥ ४५ ॥

दुःखं समुद्‌यो हेतुर्निरोधो रोधकारणम्।
निर्वाणहेतवो ह्येते दृष्टा दिव्येन चक्षुषा ॥ ४६ ॥

दुःख, दुःख का समुदय (उद्‌गम), दुःख का निरोध, दुःख निरोध का उपाय, इन सबका ज्ञान निर्वाण प्राप्ति का कारण है जो कि मैंने अपनी आँखों से देखा है ॥ ४६ ॥

जन्ममृत्युजराव्याधिसंयोगविप्रयोगजैः ।
दुःखैरेते ध्रुवं सर्वे पीड्यन्ते भुवि मानवाः ॥ ४७ ॥

जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग, अप्रिय संयोग, प्रिय वियोग आदि जायमान दुःख से संसार में मनुष्य पीड़ित हैं ॥ ४७ ॥

अपि वह्निकणः सूक्ष्मो दाहात्मैव न शीतलः।
दुःखात्मैव तथा चैकोऽहंभावस्य कणो मतः ॥ ४८ ॥

अग्नि का छोटे से छोटा कण भी दहनशील ही होता है, शीतल नहीं हो सकता। इसी तरह अहं भाव का एक सूक्ष्म अंश भी दुःखद ही होता है ॥ ४८ ॥

भूवारिकालबीजानि चाङ्कुरस्य हि कारणम्।
कामरागोद्भवं कर्म तथा दुःखस्य कारणम् ॥ ४९ ॥

पृथ्वी, जल, काल और बीज, अंकुर के कारण हैं। इसी तरह काम और राग से उत्पन्न कर्म दुःख का कारण है ॥ ४९ ॥

कामरागोद्भवो दोषः सर्गस्य बीजमव्ययम्।
उत्तमाधममध्यानां भेदे कर्म हि कारणम् ॥ ५० ॥

काम और राग से उत्पन्न दोष, सृष्टि का अविनाशी बीज है तथा उत्तम, मध्यम और अधम आदि भेद का कारण कर्म है ॥ ५० ॥

दोषक्षये ध्रुवं त्वेतद्भवचक्रं विरम्यते।
कर्मक्षये दुःखनाशो बीजाभावेऽङ्कुरः कुतः ॥ ५१ ॥

दोष के क्षय होने पर यह भव चक्र निश्चय रुक जाता है, एवं कर्म के क्षय होने पर दुःख का नाश हो जाता है। बीज के अभाव में अंकुर कहाँ से होगा ॥ ५१ ॥

स निरोधो न यत्रास्ति जन्ममृत्युजरादिकम्।
नाद्यन्तं न सुखं दुःखं न सर्गस्त्वक्षरो हि सः ॥ ५२ ॥

उसे निरोध कहते हैं जिसमें जन्म, मृत्यु, जरा आदि नहीं है तथा जिसका आदि अन्त नहीं है। जिसमें न सुख है, न दुःख है और न सृष्टि है, वही अक्षर है ॥ ५२ ॥

स एव मध्यमो मार्गस्त्वाष्टाङ्गिक इति स्मृतः।
लक्ष्यप्राप्तिरनेनैव भ्रष्टा लोकास्तु तं विना ॥ ५३ ॥

वही मध्यम मार्ग अष्टांग योग है—ऐसा कहा जाता है। इसी से लक्ष्य (निर्वाण) की प्राप्ति होती है। इसके बिना संसार (प्राणी) भटक गया है ॥ ५३ ॥

ज्ञेयं दुःखं तथा हेयो हेतुरनुभवेत्तथा।
निरोधो भावनीयश्च मार्ग एषेति मे मतिः ॥ ५४ ॥

दुःख को जानना चाहिये। दुःख के हेतु को त्यागना चाहिये। निरोध (उद्गम) का अनुभव करना चाहिये तथा मार्ग (साधन) की भावना (प्रयत्न) करना चाहिये ॥ ५४ ॥

यदा विकसिता दृष्टिर्मयि ज्ञानात्मिका तदा।
दुःखं हेतुर्निरोधश्च मार्गश्चाधिगतो मया ॥ ५५ ॥

जब मुझमें ज्ञानात्मक दृष्टि विकसित हुई तब मैंने दुःख, दुःख का हेतु, निरोध एवं मार्ग (साधन) प्राप्त किये ॥ ५५ ॥

चतस्र आर्यसत्यस्यावस्था एता प्रकीर्तिताः।
यावन्मया न दृष्टास्तास्तावन्मोक्षे न संगतम् ॥ ५६ ॥

ये आर्य सत्य की चार अवस्थाएँ कही गई हैं। जब तक मैंने इन्हें नहीं देखा, तब तक मुझे मोक्ष की संगति नहीं मिली ॥ ५६ ॥

आर्यसत्यं यदा दृष्टं सम्यगाचरितं तथा।
मुक्तोऽहं लब्धलक्ष्योऽहं तदैवेति विनिश्चितम् ॥ ५७ ॥

जब मैंने ये आर्य सत्य देखे तथा सम्यक् आचरण किया तब ही (तत्काल) मुझे निश्चय हुआ कि मैं लक्ष्य को प्राप्त कर चुका हूँ एवं मुक्त हूँ ॥ ५७ ॥

ऋषेः कारुणिकस्यैवं श्रुत्वा धर्म्यं सुवाङ्मयम्।
कौण्डिन्याः शतदेवाश्च दिव्यं ज्ञानं प्रलेभिरे ॥ ५८ ॥

इस तरह करुणापूर्ण ऋषि के मुख से धर्म युक्त वाणी सुनकर कौण्डिन्य आदि ऋषि तथा सौ संख्या वाले (शत) देवताओं को दिव्य ज्ञान हुआ ॥ ५८ ॥

सर्वज्ञमुनिना पृष्टा ज्ञातं कच्चिन्नरोत्तमाः।
ज्ञातवन्तो वयं नूनमिति ते चोत्तरं ददुः ॥ ५९ ॥

तब सर्वज्ञ मुनि ने पूछा—"नरोत्तमो ! क्या तुम लोगों को ज्ञान प्राप्त हुआ ?" इस पर उन्होंने उत्तर दिया—"हाँ, हम सबको अवश्य ज्ञान प्राप्त हुआ है" ॥ ५९ ॥

अहं ज्ञातेति पूर्वं यः कौण्डिन्यस्तेषु चावदत्।
स एव सर्वभिक्षूणां प्रधानो धर्मवानभूत् ॥ ६० ॥

उनमें सर्व प्रथम जिस कौण्डिन्य ने कहा कि मैं जान गया, वहीं सब भिक्षुओं में प्रधान धर्मवेत्ता हुआ ॥ ६० ॥

अचलस्थैस्तदा यक्षैः सिंहनादेन घोषितम्।
मुनिना जनसौख्याय धर्मचक्रं प्रवर्तितम् ॥ ६१ ॥

उस समय पर्वतों पर स्थित यक्षों ने सिंहनाद करते हुए घोषणा की कि मुनि ने जनसुख के लिए धर्मचक्र प्रचलित कर दिया है ॥ ६१ ॥

शीलारञ्च सुसन्नद्धं शमनेमियुतं तथा ।
बुद्धिस्मृतिद्विचक्राभ्यां महद्भ्यां समलङ्कृतम् ॥ ६२ ॥

'शील' इस चक्र के अरे हैं (आड़ी लकड़ी हैं)। 'शम' इसकी नेमी है। बुद्धि तथा स्मृति—दो विशाल चक्रों से यह सुशोभित है ॥ ६२ ॥

ह्रिया नाभ्या समायुक्तं सत्याहिंसाधुरान्वितम् ।
अपूर्वं त्रिषु लोकेष्वनिरुद्धगमनं तथा ॥ ६३ ॥

लज्जा रूपी नाभि से अलंकृत सत्य और अहिंसा रूपी धुर से युक्त तीनों लोकों में अनिवार्य गति वाला यह अपूर्व चक्र है ॥ ६३ ॥

सच्छकटं दृढं त्वन्यै रिपुभिश्चापराजितम् ।
एतदारुह्य लोकोऽयं शश्वच्छान्तिं गमिष्यति ॥ ६४ ॥

यह सर्वोत्तम शकट अन्य शत्रुओं (मतमतान्तरों) से पराजित नहीं हो सकता है। इस पर चढ़कर यह संसार सदा शान्ति प्राप्त करेगा ॥ ६४ ॥

यक्षेभ्यः पर्वतस्थेभ्यः श्रुतो देवैरयं ध्वनिः ।
ऊर्ध्वोर्ध्वं तु ततस्तेभ्यो ब्रह्मधाम ह्ययं गतः ॥ ६५ ॥

पर्वत पर स्थित यक्षों का यह उद्घोष स्वर्ग में देवताओं ने सुना। इसी तरह ऊपर को बढ़ता हुआ (यह उद्घोष) ब्रह्म धाम तक चढ़ गया ॥ ६५ ॥

त्रैलोक्यस्याप्यनित्यत्वं मुनेः श्रुत्वा दिवौकसः ।
विरता विषयेभ्यस्ते चागमन् सुखमव्ययम् ॥ ६६ ॥

देवताओं ने मुनि के द्वारा तीनों लोकों की अनित्यता सुनकर, विषयों से विरक्त होकर अक्षय सुख प्राप्त किया ॥ ६६ ॥

अहिनरसुरलोके धर्मचक्रं यदेदं
त्रिभुवनसुखशान्त्यै चाशु शुभ्रं चचाल ।
भुवि दिशि दिवि देवा भूतसंघाश्च सर्वे
सह कुसुमनिपातैर्नृत्यगीतं च चक्रुः ॥ ६७ ॥

इति श्री रामचन्द्रदासकृते उत्तरबुद्धचरितमहाकाव्ये बुद्धस्य काशीगमनो नाम पञ्चदशः सर्गः ।

जब तीनों भुवनों में सुख और शान्ति के लिये यह शुभ्र धर्म चक्र, पाताल लोक, मृत्यु लोक एवं देव लोक में तेजी से घूमने लगा तब पृथ्वी पर दिशाओं में तथा स्वर्ग में देवता एवं सब प्राणि समूह फूलों की वर्षा करते हुए नाचने और गाने लगे ॥ ६७ ॥

यह श्री रामचन्द्र दास कृत भाषानुवाद सहित उत्तर बुद्ध-चरित का "बुद्ध का काशी गमन" नामक पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ

अथ षोडशः सर्गः

शिष्येभ्यो दीक्षाप्रदानम्

ततस्तेनर्षिणा तस्मिन् धर्मे निर्वाणसंज्ञके ।
दीक्षिताः संयतात्मानो मुनयोऽश्वजिदादयः ॥ १ ॥

॥ सोलहवाँ सर्ग ॥

शिष्यों को दीक्षादान

तब उन ऋषि ने निर्वाण नामक उस धर्म में, अश्वजित् आदि संयमी मुनियों को दीक्षित किया ॥ १ ॥

भिक्षुपञ्चकमध्येऽसौ नक्षत्राणां यथा शशी ।
बभौ भुवनविख्यातः स्वमहिम्ना तथागतः ॥ २ ॥

वे तथागत (गौतम) अपनी महिमा से उन पाँच भिक्षुओं के बीच में लोक प्रसिद्ध होकर इस प्रकार शोभित हुए; जैसे तारों के बीच चन्द्रमा ॥ २ ॥

कुलपुत्रो यशोनामा सुप्ताः कतिपयाः स्त्रियः ।
विक्षिप्तवसना दृष्ट्वा क्षुब्धचेतास्ततोऽभवत् ॥ ३ ॥

किसी समय यश नामक कुलपुत्र के चित्त में, सोती हुई कुछ स्त्रियों के शरीर पर से कपड़े हटे हुए देखकर, क्षोभ उत्पन्न हो गया ॥ ३ ॥

अहो नु कति सुन्दर्यश्चैता इति गदन् मुहुः ।
भूषणैर्भूषितो यातो यत्र बुद्धः सुसंस्थितः ॥ ४ ॥

'अरे ! ये कितनी सुन्दर हैं—' ऐसा कहता हुआ वह आभूषणों से भूषित, स्थिर चित्त बुद्ध के पास गया ॥ ४ ॥

जनदोषाशयज्ञोऽसौ तमुवाच तथागतः ।
मोक्षस्य समयापेक्षा नास्ति सौगत्यमाप्नुहि ॥ ५ ॥

लोगों के दोषों और आशय को जानने वाले उन तथागत ने उस (यश) से कहा—"मोक्ष का कोई विशेष अवसर नहीं होता अतः तुम सुगत को प्राप्त होओ" ॥ ५ ॥

दिक्व्यापियशसस्तस्य वचः श्रुत्वा कुलात्मजः ।
शान्तिमापातपक्लान्तः सरिदम्भःप्लुतो यथा ॥ ६ ॥

सब दिशाओं में व्याप्त यश वाले उन गौतम के वचन को सुनकर उस कुलपुत्र ने शान्ति को इस प्रकार पाया जैसे सूर्य की धूप से तपा कोई व्यक्ति नदी की जलधारा को पा जाता है ॥ ६ ॥

पूर्वाभ्यासेन स क्षिप्रं गृहस्थोऽपि कुलात्मजः ।
वपुषा चार्हतां शुद्धं बुद्धत्वं मनसाप्यगात् ॥ ७ ॥

वह कुलपुत्र गृहस्थ होने पर भी पहले के अभ्यास के कारण शीघ्र ही शरीर से अर्हता को और मन से शुद्ध बुद्धत्व को प्राप्त हुआ ॥ ७ ॥

शुक्लवस्त्रं यथा धौतं संक्षु रागेण रज्यते ।
असौ श्रवणमात्रेण सद्धर्मं जगृहे मुदा ॥ ८ ॥

जैसे धोया हुआ सफेद कपड़ा किसी भी रंग से शीघ्र रंग जाता है, वैसे ही उस कुलपुत्र यश ने केवल सुनकर ही सहर्ष सद्धर्म को ग्रहण कर लिया ॥ ८ ॥

ज्ञातज्ञेयं कृतार्थं तु त्रपन्तं स्वस्य भूषया ।
बुद्धः कुलात्मजं वीक्ष्य जगाद वदतां वरः ॥ ९ ॥

श्रेष्ठ वक्ता बुद्ध ने, जानने योग्य (सद्धर्म) को जानने वाले, स्वयं कृतार्थ तथा अपनी वेशभूषा से स्वयं ही लज्जित होने वाले कुलपुत्र यश को देखकर उससे कहा—॥ ९ ॥

भूषितो मुण्डितो वापि समद्रष्टा जितेन्द्रियः ।
धर्ममाचरितुं योग्यो न लिङ्गं धर्मकारणम् ॥ १० ॥

चाहे कोई आभूषण पहिने हो, चाहे सिर घुटाये हो; पर जो समदर्शी और जितेन्द्रिय है—वही धर्म का आचरण करने योग्य है । केवल वेष (चिह्न मात्र) ही धर्म का कारण नहीं है ॥ १० ॥

शरीरेण गृहं त्यक्त्वा य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान् वनस्थोऽपि गृहस्थः स हि कथ्यते ॥ ११ ॥

शरीर से घर को त्याग कर, वन में रहते हुए भी, जो मन से इन्द्रियों के विकारों का स्मरण करता रहता है; वह गृहस्थ ही कहा जाता है ॥ ११ ॥

यस्तु व्रजति चित्तेन जितमोहो जितेन्द्रियः ।
वपुषा चात्यजन् गेहं वनस्थः प्रोच्यते बुधैः ॥ १२ ॥

और जो शरीर से घर को न छोड़कर भी, मोह को जीतकर, मन से जितेन्द्रिय हो जाता है; उसे बुद्धिमान् लोग (घर में रहने पर भी) वनस्थ कहते हैं ॥ १२ ॥

एवं सिद्धिं समागम्य भिक्षुर्विगतमत्सरः ।
यत्र कुत्राश्रमे तिष्ठन् विमुक्तः स निगद्यते ॥ १३ ॥

इस प्रकार सिद्धि को प्राप्त कर, ईर्ष्या का नाश करके, भिक्षु, जिस किसी भी आश्रम में वास करता हुआ विमुक्त ही कहा जाता है ॥ १३ ॥

दधाति कवचं भूपो रिपुसेनाजिगीषया ।
वेषं गृह्णाति भिक्षुश्च दोषसेनाजिगीषया ॥ १४ ॥

जिस प्रकार राजा, शत्रु की सेना को जीतने की इच्छा से कवच को धारण करता है; उसी प्रकार दोषों (विकारों) की सेना को जीतने की इच्छा से, भिक्षु भी वेष धारण करता है ॥ १४ ॥

अत्र भिक्षो समागच्छ तत उक्तं महर्षिणा ।
श्रुत्वा गृहस्थवेषेण कुलपुत्रः समाययौ ॥ १५ ॥

तब महर्षि (गौतम) ने कहा—"हे भिक्षु ! यहाँ आओ ।" यह सुनकर (वह) कुलपुत्र (यश) गृहस्थ के वेष में ही (वहाँ) आ गया ॥ १५ ॥

पञ्चाशच्चापि चत्वारस्तस्मिन्नुक्तास्तथानुगाः ।
तेनैव सह बुद्धेन सद्धर्मे तेऽपि दीक्षिताः ॥ १६ ॥

तथा उससे अनुराग रखने और उसका अनुकरण करने वाले चौवन

(५४) और व्यक्ति भी उसके साथ ही, बुद्ध के द्वारा, सद्धर्म में दीक्षित हुए ॥ १६ ॥

लिप्तं क्षारेण वस्त्रं तु क्षालितेन विरज्यते ।
पूर्वपुण्येन पूतास्ते सत्सङ्गेन विरज्जिताः ॥ १७ ॥

सोडा (क्षार) लगा हुआ कपड़ा धो देने से स्वच्छ हो जाता है उसी प्रकार पहले के पुण्य से धोए गये (पवित्र किये गये) वे, सत्संग के कारण स्वच्छ हो गये ॥ १७ ॥

शिष्येष्वर्हत्त्वमाप्तानामष्टानां प्रथमं दलम् ।
अभूत्तेनार्चितः सम्यगुवाच चार्हतां वरः ॥ १८ ॥

उन शिष्यों में अर्हता को प्राप्त होने वाले आठ शिष्यों के प्रथम समूह से भली-भाँति पूजित होने पर, अर्हतों में श्रेष्ठ उन (गौतम) ने कहा ॥ १८ ॥

कृतार्था भिक्षवो यूयं दुःखान्तं च गता ध्रुवम् ।
तेषां कुरुत साहाय्यं येऽधुना चापि दुःखिनः ॥ १९ ॥

'हे भिक्षुओ ! अवश्य ही तुम सब कृतार्थ और सब दुःखों से दूर हो गये हो । अब तुम उनकी सहायता करो; जो आज (अभी) भी दुःखी हैं ॥ १९ ॥

पृथक् पृथग् भवन्तो हि भ्राम्यन्तु भुवि सर्वतः ।
दयाभावान्विताः सर्वे दीनानुपदिशन्तु तान् ॥ २० ॥
राजर्षीणामहं यामि वासभूमिं गयां स्वयम् ।
विनेतुमार्जवे मत्तान् काश्यपान् सिद्धिगर्हितान् ॥ २१ ॥

अब आप सब, सम्पूर्ण संसार में, अलग-अलग भ्रमण कीजिये और दया भाव से पूर्ण होकर दीन-हीनों को उपदेश (कल्याण) कीजिये, तथा सिद्धि के अभिमान दोष से दूषित मदमत्त काश्यपों को नम्रता में झुकाने के लिए मैं स्वयं भी राजर्षियों की निवास-भूमि 'गया' को जाता हूँ ॥ २०–२१ ॥

ततस्ते भिक्षवो दिक्षु तत्त्वज्ञाश्च तदाज्ञया ।
प्रतस्थिरे तु निर्द्वन्द्वः सुगतोऽपि गयां गतः ॥ २२ ॥

तब वे सब तत्त्वज्ञ भिक्षु उन (गौतम) की आज्ञा पाकर चले गये और सुगत (गौतम) भी निश्चिन्त होकर 'गया' को गये ॥ २२ ॥

क्रमात्तपोवनं गत्वा वसन्तं तत्र काश्यपम् ।
ददर्श मुनिशार्दूलं तपोमूर्तिं तथागतः ॥ २३ ॥

चलते-चलते तपोवन में पहुँचकर तथागत ने वहाँ निवास करने वाले तपोमूर्ति मुनि-श्रेष्ठ काश्यप को देखा ॥ २३ ॥

गिरावुपवने वापि निवासार्होऽपि शासकः ।
ययाचे वसतिं तं हि विनेतुं विगतज्वरः ॥ २४ ॥

पहाड़ पर अथवा उपवन में—कहीं भी रहने योग्य होने पर भी, संयमी (शास्ता) उन गौतम ने (उन काश्यप से) निवास करने के लिये स्थान की याचना की ॥ २४ ॥

अग्निशालां ददौ तस्य निवासार्थं स काश्यपः ।
यत्रासीत्तु महासर्पो मात्सर्यात्तं जिघांसया ॥ २५ ॥

उन काश्यप ने ईर्ष्यावश उन्हें मार डालने की इच्छा से (गौतम को) रहने के लिये वह अग्निशाला दी, जिसमें एक बड़ा साँप रहता था ॥ २५ ॥

निर्भयं मुनिमक्षुब्धमासीनमकुतोभयम् ।
विलोक्य भुजगः क्रोधादवमद्विषमुल्बणम् ॥ २६ ॥

उन मुनि (तथागत) को निर्भय, अक्षुब्ध और शान्त बैठा देखकर, उस महासर्प ने क्रोध से जहर की ज्वालाएँ उगलीं ॥ २६ ॥

अग्निशाला प्रजज्वाल तेन रोषविषाग्निना ।
भीतोऽग्निस्तु न पस्पर्श कायं तस्य महात्मनः ॥ २७ ॥

उस क्रोधमय विष की अग्नि से अग्निशाला जल उठी; पर भयभीत अग्नि ने उन महात्मा के शरीर का स्पर्श भी नहीं किया ॥ २७ ॥

लोके दग्धेऽपि कल्पान्ते राजते हि पितामहः ।
प्लुष्टायामग्निशालायां तपसाऽसौ तथा बभौ ॥ २८ ॥

जिस प्रकार कल्प के अन्त में संसार के जल जाने पर भी पितामह (ब्रह्मा) बने रहते हैं, उसी प्रकार वे गौतम, अग्निशाला के जल जाने पर भी अपनी तपस्या के बल पर बने रहे (शोभित हुए) ॥ २८ ॥

अदग्धाङ्गं प्रशान्तं तमासीनमकुतोभयम् ।
विलोक्य विस्मितः सर्पः प्रणनाम महामुनिम् ॥ २९ ॥

उस महासर्प ने उन्हें (महामुनि को) अदग्ध (न जला हुआ), प्रशान्त और निर्भय बैठा हुआ देखकर, आश्चर्यान्वित हो प्रणाम किया ॥ २९ ॥

दग्धो भिक्षुरिति मत्वा करुणाश्रुप्लुताननाः ।
सर्वे कोलाहलं चक्रुस्तत्राश्रमनिवासिनः ॥ ३० ॥

"अरे ! भिक्षु जल गया, भिक्षु जल गया" ऐसा मानकर, नयनों में करुणा के अश्रु भरे हुए, उस आश्रम के वे सभी निवासी कोलाहल करने लगे ॥ ३० ॥

भिक्षापात्रे समादाय प्रभाते भुजगं मुनिः ।
काश्यपं दर्शयामास मन्दहास्यो निराकुलः ॥ ३१ ॥

प्रातःकाल होने पर उन मुनि (गौतम) ने अपने भिक्षापात्र में उस महासर्प को लाकर, शान्तिपूर्वक मन्द मुस्कानसहित काश्यप को दिखाया ॥ ३१ ॥

प्रभावञ्च महाश्चर्यं दृष्ट्वा तस्य तपस्विनः ।
तथापि नाधिकं मेने लोकेऽन्यं कञ्चिदात्मनः ॥ ३२ ॥

काश्यप ने उन तपस्वी (गौतम) के आश्चर्यमय महान् प्रभाव को देखा, तो भी उसने अपने आप से अधिक संसार में किसी को भी न माना ॥ ३२ ॥

ततः स करुणापूर्णो बुद्धो ज्ञात्वा तदाशयम् ।
नानारूपधरस्तस्य मलं चिक्षेप हार्दिकम् ॥ ३३ ॥

तब करुणामय बुद्ध ने उस (काश्यप) के विचार को जाना और अनेक उपायों से उसके हृदय के पाप (बुराई) को दूर किया ॥ ३३ ॥

तदा स काश्यपो बुद्धं मेने तमात्मनोऽधिकम् ।
महिम्ना विरजीभूतो तस्य धर्मे मतिं ददौ ॥ ३४ ॥

तब उस काश्यप ने उन बुद्ध को अपने आप से अधिक मान लिया और उनकी महिमा से पराभूत होकर उनके धर्म में अपनी बुद्धि लगाई ॥ ३४ ॥

औरुबिल्वस्तदा तस्य मतं मत्वा निवर्तितम् ।
जग्राह सौगतं धर्ममनुगैः शतपञ्चकैः ॥ ३५ ॥

तब उस काश्यप का मत परिवर्तित देखकर औरुबिल्व ने भी अपने ५०० शिष्यों के साथ सौगत धर्म स्वीकार किया ॥ ३५ ॥

काश्यप औरुबिल्वश्च तेरतुः दुःखसागरम् ।
जहतुश्चीवरञ्चापि शिष्यैः साकं विचेरतुः ॥ ३६ ॥

वह काश्यप और औरुबिल्व, दुःखसागर को पार कर गये तथा (उन्होंने) चीवर भी त्याग दिये और शिष्यों के साथ विचरने लगे ॥ ३६ ॥

गयनदीतिनामानौ काश्यपस्यानुजौ प्रियौ ।
भ्रातरं तं तथा वीक्ष्य सन्मार्गं तौ च जग्मतुः ॥ ३७ ॥

गय और नदी काश्यप के दोनों प्यारे छोटे भाई भी अपने अग्रज (बड़े भाई) को इस प्रकार सन्मार्ग पर चलते देखकर उनके पीछे ही चले ॥ २७ ॥

काश्यपाँस्तान् सशिष्याँस्त्रीन् गयशीर्षगिरौ ततः ।
आर्षाक्षः सुगतः सम्यग् निर्वाणं संशशास वै ॥ ३८ ॥

तब गयशीर्ष नामक पहाड़ पर अपने शिष्यों सहित उन तीन काश्यप-बन्धुओं को पाकर ऋषि दृष्टि वाले (तत्त्वदर्शी) सुगत ने सम्पूर्ण रूप से निर्वाण का उपदेश किया ॥ ३८ ॥

वितर्केन्धनजातेन मोहधूमावृतेन च ।
दोषाग्निना त्विदं विश्वं विवशं परिदह्यते ॥ ३९ ॥

उन्होंने कहा—वितर्क रूपी ईंधन से उत्पन्न, मोह रूपी धुएँ से ढके, द्वेषरूपी अग्नि से यह सारा संसार विवश होकर जला जा रहा है ॥ ३९ ॥

शान्तिं ज्ञानञ्च नेतारं विना लोको मुहुर्मुहुः ।
जरामरणरोगेण दूयमानो विनश्यति ॥ ४० ॥

शान्ति, ज्ञान और नेता के बिना, बुढ़ापे, मृत्यु और रोग से पीड़ित यह संसार बार-बार नष्ट होता है ॥ ४० ॥

तप्यमानमिमं विश्वं विविधैर्दुःखपावकैः ।
ज्ञानिनां पश्यतां देहे संवेगो जायतेऽमलः ॥ ४१ ॥

अनेक प्रकार की दुःखरूपी अग्नियों से जलते हुए इस संसार को देखनेवाले ज्ञानियों के शरीर में निर्मल संवेग उत्पन्न हो जाता है ॥ ४१ ॥

संवेगाच्च निरीहत्वं जितचित्तस्य जायते ।
ततो मुक्तिस्ततोऽसौ हि मुक्तोऽहमिति मन्यते ॥ ४२ ॥

चित्त को जीतने वाले व्यक्ति को, संवेग से निरीहता होती है, निरीहता से मुक्ति होती है और तब वह—मैं मुक्त हूँ—ऐसा मानने लगता है ॥ ४२ ॥

प्रवाहं वीक्ष्य लोकस्य ततः संन्यस्यते मुदा ।
जन्मनः कार्यपूर्णस्य तस्य जन्म न विद्यते ॥ ४३ ॥

तब वह संसार के प्रवाह (गति) को देखकर, आनन्द से संन्यास ले लेता है और जीवन का कार्य पूर्ण कर लेने वाले, उसका फिर जन्म नहीं होता ॥ ४३ ॥

इति तत्परमं ज्ञानमुपश्रुत्य सहस्रशः ।
भिक्षवो मोदमाजग्मुर्ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार के उस उत्तम ज्ञान को सुनकर हजारों भिक्षु आनन्द को प्राप्त हुए और ज्ञान के द्वारा उन्होंने अपने सम्पूर्ण पापों को धो डाला (दूर कर दिया)॥४४॥

मुनिस्त्रिभिर्महाप्राज्ञैः काश्यपैस्तैस्तथा बभौ ।
दानसम्मानशीलैश्च धर्मराजो यथा दिवि ॥ ४५ ॥

उन तीन महाप्राज्ञ काश्यप बन्धुओं के घेरे में वे मुनि (गौतम) इस प्रकार शोभित हुए जैसे धर्मराज, शील, दान और सम्मान से घिरे हुए, स्वर्ग में शोभित होते हैं ॥ ४५ ॥

ततो गतेषु वै तेषु मृगदावं तु निष्प्रभम् ।
धनधर्मसुखैर्हीनं पुंसो जन्म यथा मुधा ॥ ४६ ॥

तब उन सबों के चले जाने पर (वह) मृगदाव (स्थान) इस प्रकार निष्प्रभ हो गया; जैसे धन, धर्म और सुख से हीन मनुष्य का जन्म व्यर्थ हो जाता है ॥ ४६ ॥

पूर्वं कृतावधिं बुद्धः संस्मृत्य मगधाधिपम् ।
काश्यपैरावृतः सद्यो ययौ राजगृहं प्रति ॥ ४७ ॥

तब पहले मगधराज को दिये हुए वचन की अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण कर बुद्ध, उन काश्यपों से घिरे हुए, शीघ्र ही राजगृह (मगधराज की राजधानी) की ओर गये ॥ ४७ ॥

वेणुवनागतं बुद्धमुपश्रुत्य नृपो मुदा ।
सहामात्यैश्च पौरैश्च दिदृक्षुस्तं समाचलत् ॥ ४८ ॥

बुद्ध के वेणुवन में आने का समाचार सुनकर, अत्यन्त प्रसन्नता के साथ राजा (मगधराज) अपने मंत्रियों एवं नगरवासियों के साथ, दर्शन के लिये चल पड़ा ॥ ४८ ॥

रथवाजिगजारूढा दर्शनोत्सुकमानसाः ।
पर्वतीयपथादाशु सभूपा निर्ययुर्जनाः ॥ ४९ ॥

राजा के साथ हाथी, घोड़े और रथों पर बैठे हुए, दर्शन के लिये उतावले प्रजाजन पहाड़ी मार्ग से ही शीघ्र चल पड़े ॥ ४९ ॥

मगधाधिपतिर्दूराद् ददर्श मुनिपुङ्गवम् ।
रथादवततराशु सहामात्यैः समादरात् ॥ ५० ॥

मगधराज ने जब दूर से ही उन मुनिश्रेष्ठ को देखा तो आदर देने के लिये अपने मंत्रियों के साथ वह शीघ्र ही रथ से उतर पड़ा ॥ ५० ॥

त्यक्तपरिजनो भूपस्त्यक्तव्यजनचामरः ।
मुनिं समाययौ नम्रो ब्रह्माणमिव वासवः ॥ ५१ ॥

सेवकों, पंखों एवं चँवरों को भी त्याग कर, राजा नम्र होकर मुनि के पास इस प्रकार गया; जिस प्रकार इन्द्र, ब्रह्मा के पास जाता है ॥ ५१ ॥

शिरसा चरणस्पर्शी मौलिना प्रणनाम सः ।
अनुज्ञातस्तृणाच्छन्ने भूविष्टर उपाविशत् ॥ ५२ ॥

अपने सिर से उनके चरणों का स्पर्श करते हुए, उसने (उन्हें) प्रणाम किया और उनकी आज्ञा पाने पर तृणाच्छादित पृथ्वी पर बैठा ॥ ५२ ॥

अहो शाक्यस्य माहात्म्यं काश्यपः शिष्यतां गतः ।
इति तत्रागतैर्लोकैरन्योऽन्यमभिभाषितम् ॥ ५३ ॥

वहाँ आये हुए लोग आपस में यह कहने लगे—"अरे ! बुद्ध का बड़ा माहात्म्य (प्रभाव) है कि काश्यपतक उनके शिष्य बन गये ॥ ५३ ॥"

तेषां भावं परिज्ञाय मुनिः पप्रच्छ काश्यपम् ।
किं गुणं परिलक्ष्याग्नेः पूजां संत्यक्तवानिति ॥ ५४ ॥

उन लोगों के भाव को जानकर मुनि (बुद्ध) ने काश्यप से पूछा—तुमने कौन-सा गुण (बात) सोचकर अग्नि की पूजा करना छोड़ दिया है ॥ ५४ ॥

मेघगम्भीरया वाचा सभायां गुरुणा तथा ।
पृष्टो बद्धाञ्जलिर्नम्र उवाचोच्चैः स काश्यपः ॥ ५५ ॥

उस सभा में गुरु के द्वारा, उस प्रकार मेघ के समान गम्भीर वाणी में पूछे जाने पर, काश्यप हाथ जोड़कर, नम्रता के साथ, ऊँचे स्वर में बोले ॥ ५५ ॥

आहुत्या पूजया चाग्नेः प्रवृत्तिर्भवजन्मनि ।
आधिव्याधिफलश्चास्या जहौ पूजामतो मुने ॥ ५६ ॥

"अग्नि की पूजा करने और उसमें आहुति देने से, फिर से संसार में जन्म लेने की प्रवृत्ति बनी रहेगी और उस प्रवृत्ति का फल शारीरिक और मानसिक पीड़ा होगी । इसीलिये हे मुने ! मैंने (अग्नि की) पूजा त्याग दी है ॥ ५६ ॥

हूयते पूज्यते वह्निर्मन्त्रोच्चारणपूर्वकम् ।
सकामेनैव ते कामा वर्धन्तेऽतो जहौ मुने ॥ ५७ ॥

अग्नि-पूजा और उसमें आहुति देना, मंत्रोच्चारण के साथ सकाम-भाव से ही किया जाता है। इससे कामनाएँ बढ़ती हैं। अतः हे मुने! मैंने पूजा छोड़ दी है॥

मन्त्रोच्चारेण चाहुत्या न मुक्तिर्जन्मतो नृणाम्।
जनिरेव महद्दुःखं जहौ पूजामतो मुने ॥ ५८ ॥

मंत्र के उच्चारण एवं अग्नि में आहुति देने से, मनुष्यों को जन्म (बन्धन) से मुक्ति नहीं मिल सकती, और जन्म ही महान् दुःख है; अतः हे मुने! मैंने पूजा को त्याग दी है ॥ ५८ ॥

इज्यया कर्मणा चैव तपसा श्रेय आप्यते।
मिथ्यैवैष हि विश्वासो जहौ पूजामतोऽप्यहम् ॥ ५९ ॥

'पूजा, कर्म और तपस्या से श्रेय की प्राप्ति होती है' यह अन्ध (असत्य) विश्वास है; अतः हे मुने! मैंने पूजा त्याग दी है ॥ ५९ ॥

जन्ममृत्युजरामुक्तस्त्वक्षरं पदमव्ययम्।
उपादानञ्च वेदाहमतो पूजां जहौ मुने ॥ ६० ॥

जन्म, मृत्यु एवं वृद्धावस्था से मुक्त होकर मैं अव्यय, अक्षरपद और उपादान को जानता हूँ इसीलिए हे मुने! मैंने (अग्नि की) पूजा त्याग दी हैं ॥ ६० ॥

दीक्षितस्य विनीतस्य काश्यपस्य तथाविधम्।
तथ्यं श्रद्धाकरं वाक्यमाकर्ण्याह विनायकः ॥ ६१ ॥

दीक्षा लेने वाले उस नम्र शिष्य काश्यप के उस प्रकार के हितकारी और श्रद्धा योग्य शब्दों को सुनकर बुद्ध ने कहा ॥ ६१ ॥

विजयस्व महाभाग धर्माणां धर्ममुत्तमम्।
लब्धवानस्य संदिग्धं शुभं सम्पादितं त्वया ॥ ६२ ॥

हे महाभाग! (काश्यप) विजयी हो। तुमने धर्मों में उत्तम धर्म को प्राप्त किया है। तुम्हारे द्वारा निःसन्देह शुभ का सम्पादन किया गया है ॥ ६२ ॥

दर्शयित्वा यथैश्वर्यमुत्कायन्ते धनाधिपाः ।
दिव्यशक्त्या त्वमप्येवं सभामुत्कण्ठितां कुरु ॥ ६३ ॥

धनी व्यक्ति जिस प्रकार अपने (धन के) ऐश्वर्य का प्रदर्शन करके (अन्य) लोगों को चकित करते हैं, उसी प्रकार तुम भी अपनी दिव्य शक्तियों के द्वारा इस सभा को उत्कण्ठित करो ॥ ६३ ॥"

स एवमित्युदाहृत्य स्वस्मिन् स्वञ्च समाकुचत् ।
पुप्लुवे वायुमार्गे च गगने विहगो यथा ॥ ६४ ॥

ऐसा कहा जाने पर वह (काश्यप) स्वयं को अपने आप में (भीतर) सिकोड़ कर हवा में इस प्रकार उड़ गया; जैसे आकाश में पक्षी उड़ता है ॥ ६४ ॥

शाखायामिव तत्रैव तस्थौ सिद्धिविशारदः ।
शय्यायामिव सुष्वाप चक्राम च यथा भुवि ॥ ६५ ॥

सिद्धि में विशारद वह (काश्यप) वहीं इस प्रकार स्थिर होकर रह गया; जैसे शाखा पर बैठा हो । पलंग पर शयन (सोने) के समान वह सो गया, और इस तरह चलने लगा मानो भूमि पर ही हो ॥ ६५ ॥

जज्वाल च यथा वह्निर्ववर्ष क्वचिदभ्रवत् ।
कदाचित्क्वचिदेकत्र जज्वाल च ववर्ष च ॥ ६६ ॥

अग्नि के समान वह जलने लगा तो कहीं मेघ के समान बरसने लगा । और कभी-कभी कहीं तो वह एक साथ ही जलने और बरसने भी लगा ॥ ६६ ॥

एकदैव ज्वलन् वर्षन् दीर्घं गच्छन् क्वचिद्बभौ ।
तडित्सञ्चारसन्दीप्तः प्रावृषीव पयोधरः ॥ ६७ ॥

एक साथ ही जलते और बरसते हुए तथा कहीं बढ़ते हुए वह ऐसा शोभित हुआ जैसे वर्षा में विद्युत् (बिजली) की चमक से मेघ शोभित होता है ॥ ६७ ॥

तच्चमत्कारसंतुष्टाः सस्पृहाश्च तदीक्षणाः ।
प्रणेमुर्मागधास्ते तं घनगम्भीरनादिनम् ॥ ६८ ॥

उसके ऐसे चमत्कार से संतुष्ट होने वाले वे दर्शक मगधवासी उत्कंठित होकर मेघ के समान गम्भीर शब्द करते हुए उसे प्रणाम करने लगे ॥ ६८ ॥

ततश्चाह नतग्रीवो निवर्तितर्द्धिवैभवः ।
शिष्योऽयं ते कृतं येन चेदं तस्य भवान् गुरुः ॥ ६९ ॥

उसके बाद ऋद्धियों के वैभव को दूर करके, सिर झुकाकर, वह (काश्यप) बोला—"यह (मैं) तो तुम्हारा शिष्य है (हूँ); जिसने यह सब किया है। आप (बुद्ध) तो इसके (मेरे) गुरु हैं ॥ ६९ ॥"

नमन्तं काश्यपं दृष्ट्वा मागधाः कृतनिश्चयाः ।
बुद्ध एव हि सर्वज्ञ इति प्रोचुः परस्परम् ॥ ७० ॥

काश्यप को प्रणाम करते (झुकते) हुए देखकर मगधवासियों ने निश्चय किया कि अवश्य ही बुद्ध ही सर्वज्ञ हैं। वे सब आपस में यही चर्चा करने लगे ॥ ७० ॥

विदित्वा वपनार्हं स क्षेत्रं जिज्ञासवे ततः ।
श्रेण्याय श्रेय आरामो मुनिराह हितं वचः ॥ ७१ ॥

तब श्रेय के आराम–उपवन स्वरूप बुद्ध ने यह जानकर कि यह बोने (ज्ञान देने) योग्य खेत (स्थल) है, उस जिज्ञासु, श्रेणी (बिम्बसार-मगधराज) से हितकारी वचन कहे ॥ ७१ ॥

उदयो भूप रूपस्य व्ययश्चापि जितेन्द्रिय ।
चित्तेन चेन्द्रियैश्चैव साकं शश्वत्प्रजायते ॥ ७२ ॥

"हे जितेन्द्रिय, राजन्! रूप का (विषय का) उदय और व्यय (अस्त) सदा चित्त और इन्द्रियों के साथ हुआ करते हैं ॥ ७२ ॥

उदयास्तौ च तौ सम्यक् तात धर्मविवृद्धये ।
ज्ञातव्यौ तु ततो ज्ञेया सम्यक् कायस्य च स्थितिः ॥ ७३ ॥

हे तात! इन दोनों—उदय और अस्त को धर्म की वृद्धि के लिये जानना चाहिये और तब सम्यक् काय की स्थिति को भी जानना चाहिये ॥ ७३ ॥

इन्द्रियाणि शरीरञ्च मानसं न तु वास्तवम् ।
सन्तापयति वै दुःखं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ॥ ७४ ॥

इन्द्रियाँ और शरीर मानस (मन की कल्पना) हैं। वास्तविक (यथार्थ) नहीं हैं। दुःख उत्पन्न होकर सन्तप्त करते हैं और विलीन हो जाते हैं ॥ ७४ ॥

यावत्किञ्चिदिदं सर्वं न मे नाहं विजानतः।
अक्षयश्चाऽव्ययस्तस्य निर्वाणो जायतेऽमलः ॥ ७५ ॥

यह सारा जगत्, जो कुछ दीख रहा है, मेरा नहीं और मैं नहीं—ऐसा जिसने जान लिया उसको अक्षय, अव्यय एवं निर्मल निर्वाण प्राप्त होता है ॥७५॥

आत्मास्तीति मतं तात मिथ्यादृष्टिर्निगद्यते।
नास्तीति मतं सौम्य सम्यग्दृष्टिं विदुर्बुधाः ॥ ७६ ॥

हे तात! 'आत्मा है'—इस मत को मिथ्यादृष्टि वाला और हे सौम्य! 'आत्मा नहीं है'—इस मत को बुद्धिमान् जनों ने सम्यग्दृष्टि (सम्पूर्ण दृष्टि) कहा है ॥ ७६ ॥

मिथ्यादृष्टिर्निबन्धाय सम्यग् दृष्टिर्विमुक्तये।
आत्मानं मन्यमानेन न सत्यमुपलभ्यते ॥ ७७ ॥

मिथ्यादृष्टि बन्धन में डालती है और सम्यग्दृष्टि मुक्त कराती है। आत्मा को मानने वाले के द्वारा कभी सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती ॥ ७७ ॥

अस्त्यात्मेति च किन्नित्यः किं वाऽनित्यो मतो भवेत्।
उभयोर्मतयोर्दोषो भूरिशो वर्तते भृशम् ॥ ७८ ॥

यदि आत्मा है; तो क्या वह नित्य है अथवा अनित्य ?—यही दो मत होंगे और इन दोनों मतों में बड़े-बड़े दोष हैं ॥ ७८ ॥

अनित्य इति चेदात्मा कर्मणो न फलं ततः।
ततश्च न पुनर्जन्म निर्वाणस्तु ततो ध्रुवम् ॥ ७९ ॥

यदि आत्मा अनित्य है तो कर्म का फल नहीं होगा और तब पुनर्जन्म भी न होगा और निर्वाण (मुक्ति) तो निश्चित ही है। और ॥ ७९ ॥

नित्यः स इति चेदात्मा जन्ममृत्यू न संभवौ।
व्यापिनः खस्य नित्यस्य तूदयास्तावुभौ कथम् ॥ ८० ॥

वह आत्मा यदि नित्य है, तो जन्म और मरण सम्भव न होंगे तथा सर्व व्यापी, नित्य, शून्य (आत्मा) के उदय एवं व्यय (अस्त) दोनों कैसे होंगे॥८०॥

स्वभावाच्चेदयं व्यापी रिक्तो देशो न तं विना।
भवेदस्तं यदा तस्य सर्वस्यास्तं सहैव हि ॥ ८१ ॥

और यदि यह सहज ही सर्वव्यापी है, तो कोई स्थान उससे खाली नहीं होगा। जब उसका व्यय (अस्त) होगा; तब उसके साथ ही सबका अन्त हो जाना चाहिये ॥ ८१ ॥

स्वभावाच्चेदयं व्यापी कर्मशीलः कथं भवेत्।
कर्माभावे फलेनैषां संयोगः कर्मणां कथम् ॥ ८२ ॥

यदि यह स्वभाव से ही सर्वव्यापी है; तो कर्मशील कैसे हो सकता है ? कर्म के न होने पर, इन कर्मों से फल का संयोग किस प्रकार हो सकता है ॥ ८२ ॥

आत्मा चेत्कर्मणां कर्त्ता दुःखभागी कथं भवेत्।
स्वयं स्वामी कथं स्वस्मै दुःखदाता भवेत्क्वचित् ॥ ८३ ॥

यदि आत्मा ही कर्मों की करने वाली है; तो वह दुःखभागी कैसे हो सकती है ? स्वयं मालिक ही, अपने आप को कहीं भी दुःख देनेवाला कैसे हो सकता है ?॥८३॥

परिवर्तनशीलो न नित्यत्वादिति चेन्नतु।
सुखदुःखजुषस्त्वस्य दृश्यते परिवर्तनम् ॥ ८४ ॥

यदि ऐसा कहो कि नित्य होने के कारण यह आत्मा परिवर्तनशील नहीं है— तो यह भी नहीं है; क्योंकि सुख-दुःख को स्पर्श करने वाले इसके परिवर्तन दिखाई देते हैं ॥ ८४ ॥

दोषत्यागेन बोधाप्त्या निर्वाणो भुवि दृश्यते।
व्यापिनोऽकर्मिणस्त्वस्य निर्वाणः कथमात्मनः ॥ ८५ ॥

संसार में दोष के त्याग एवं ज्ञान की प्राप्ति से निर्वाण होता है; अतः सर्वव्यापी एवं कर्म नहीं करने वाली इस आत्मा का निर्वाण कैसे हो सकता है ॥८५॥

अस्तित्वमात्मनस्तस्मान्न मन्तव्यं कदाचन ।
कथितैः कारणैस्तैस्तैस्तस्यास्तित्वं न वास्तवम् ॥ ८६ ॥

अतएव आत्मा के अस्तित्व को किसी प्रकार भी नहीं मानना चाहिये तथा पीछे कहे गये बहुत से कारणों द्वारा जो उसके अस्तित्व की बात है, वह सत्य नहीं है ॥ ८६ ॥

किं कर्त्तव्यश्च कर्त्ता को न स्पष्टमिति विद्यते ।
अनित्यः किञ्च नित्यो वा तस्मान्नात्मा न च स्थितिः ॥ ८७ ॥

क्या कर्त्तव्य है और कौन करने वाला है ?—यह स्पष्ट नहीं है । नित्य क्या है और अनित्य क्या है ?—यह भी स्पष्ट नहीं है; इसलिये न आत्मा है और न उसका अस्तित्व है ॥ ८७ ॥

ज्ञानं यत् परमं गुह्यं शृणु ज्ञानविवृद्धये ।
हितं शुश्रूषवे वच्मि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ ८८ ॥

जो कि परम गुह्य ज्ञान है, उसे ज्ञानवर्धन के लिये ही सुनो । सुनने वालों के लिये, मैं वह हित की बात कहता हूँ; जिसको जानकर वह अशुभ से मुक्त हो सकता है ॥ ८८ ॥

यस्मिन्नादेशकः कश्चिन्न कर्त्ता न च वेदकः ।
सोऽयं शरीरमाधाय यथा लोकः प्रवर्तते ॥ ८९ ॥

और यह भी सुनो कि जिसमें न कोई आदेश देने वाला है न करने वाला है और न वेदना का अनुभव करने वाला है—वही इस शरीर को धारण करके जिस प्रकार संसार प्रवृत्त हो रहा है, उसे सुनो ॥ ८९ ॥

षडक्षाणां हि संयोगात् षड्विषयैश्च षड्विधा ।
चेतनोत्पद्यते वत्स तथा वेदनसंभवः ॥ ९० ॥

छः इन्द्रियों के, छः विषयों के साथ, छः प्रकार के संयोग से ही चेतना उत्पन्न

होती है। और हे वत्स! उसी चेतना से वेदना का जन्म (अनुभव) होता है ॥ ९० ॥

ततस्त्रिकस्य सम्बन्धात्स्पर्शात्पृथक् पृथग् बुधः।
इच्छाकर्मस्मृतिश्चैव तात एव प्रवर्तते ॥ ९१ ॥

हे तात! तब इन तीनों समूहों के सम्बन्ध, पृथक्-पृथक् स्पर्श के द्वारा, इच्छा, कर्म और स्मृति की प्रवृत्ति होती है ॥ ९१ ॥

मणिसूर्येन्धनानां वै सम्बन्धात्पावको यथा।
विषयेन्द्रियबुद्धीनां संयोगाच्चेतना तथा ॥ ९२ ॥

सूर्यकान्त मणि में सूर्य और ईंधन के संयोग से जिस प्रकार निश्चय ही अग्नि प्रगट हो जाती है; उसी प्रकार विषय, बुद्धि और इन्द्रियों के संयोग से चेतना का जन्म होता है ॥ ९२ ॥

बीजजो बीजभिन्नश्च चाभिन्नोऽपि यथाङ्कुरः।
शरीरेन्द्रियसंज्ञानां सम्बन्धोऽपि तथाविधः ॥ ९३ ॥

बीज से उत्पन्न होने वाला अंकुर जिस प्रकार बीज से भिन्न भी है और अभिन्न भी है; उसी प्रकार शरीर, इन्द्रियों और चेतना का सम्बन्ध भी (एक दूसरे से भिन्न भी और अभिन्न भी) है ॥ ९३ ॥"

पीत्वा नृपो मुनिवराननचन्द्रबिम्बाज्-
ज्ञानामृतं द्रवितमद्भुतपारमार्थ्यम्।
निष्ठायुतं विगतकल्मषशुद्धचेता
दिव्यं निरामयमवाप च धर्मचक्षुः ॥ ९४ ॥

मगधराज (बिम्बसार) ने उन श्रेष्ठ मुनि के सुन्दर चन्द्रकान्ति से सुशोभित मुख से इस अद्भुत परमार्थ करने वाले ज्ञानरूपी सरस अमृत को पीकर तथा अपने पापों को धोकर और शुद्ध मन होकर, दिव्य, निरामय (शोक-मोह रहित) और निष्ठा (श्रद्धा) से परिपूर्ण धर्मदृष्टि को प्राप्त किया ॥ ९४ ॥

तत्रागता मगधदेशनिवासिनो ये-
ये चापि दिव्यसुरपीठनिवासिनो वै ।
श्रुत्वा मुनेः परमबोधमयोपदेशं
जग्मुश्च ते द्रुतमखण्डपदं विनीताः ॥ ९५ ॥

इति श्रीरामचन्द्रदासकृते उत्तरबुद्धचरितमहाकाव्ये
शिष्येभ्यो दीक्षाप्रदानं नाम षोडशः सर्गः ।

तथा वहाँ जो मगधदेशवासी आये थे अथवा जो दिव्य स्वर्ग लोक के निवासी भी आये थे, वे सब मुनि के इस अत्यन्त ज्ञान भरे उपदेश को सुनकर शीघ्र ही विनम्रभाव से अखण्ड पद को प्राप्त हुए ॥ ९५ ॥

यह श्रीरामचन्द्रदास कृत उत्तरबुद्धचरितमहाकाव्य में
"शिष्यों को दीक्षादान" नामक सोलहवाँ सर्ग
समाप्त हुआ

अथ सप्तदशः सर्गः

महाशिष्याणां प्रव्रज्या

॥ सत्रहवाँ सर्ग ॥

महाशिष्यों का संन्यास लेकर जाना

वेणुवनं निवासाय निवेद्य सुगताय वै।
श्रुतोपदेशनिर्वृत्तो राजा सोऽनुमतो ययौ ॥ १ ॥

राजा (बिम्बसार) ने बुद्ध से वेणुवन में निवास के लिये निवेदन किया और उपदेश सुनकर (निर्वृत्त) शान्त होकर, आज्ञा पाकर वह चला गया ॥ १ ॥

ज्ञानदीपधरो बुद्धो विहारे मुक्तिदस्ततः।
उवासार्यजनैः साकं यथा देवैः पितामहः ॥ २ ॥

तब मुक्ति को देने वाले, वे बुद्ध, ज्ञानरूपी दीपक को धारण किये हुए (वेणुवन के) विहार में आर्यजनों के साथ इस प्रकार रहने लगे; जिस प्रकार देवों के साथ ब्रह्मा रहते हैं ॥ २ ॥

जितेन्द्रियोऽश्वजिन्नामा भिक्षार्थमगमत्पुरम्।
शान्तिकान्तिप्रभावैश्च जनानाकृष्टवानसौ ॥ ३ ॥

अश्वजित् नामक एक जितेन्द्रिय (भिक्षु) भिक्षा के लिये नगर में गया और उसने अपनी शान्ति, कान्ति और प्रभाव से लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया ॥ ३ ॥

यतिः शारद्वतीपुत्रः कापिलेयोऽतुलप्रभः।
पथि गच्छन्तमालोक्य तमाह बहुशिष्यकः ॥ ४ ॥

शारद्वती के पुत्र, अतुल प्रभा वाले एक संन्यासी कापिलेय ने अपने बहुत

से शिष्यों के साथ रास्ते में जाते हुए उस (अश्वजित्) को देखकर कहा ।। ४ ।।

दृष्ट्वा तेऽभिनवं वेषं सौम्य मे विस्मितं मनः ।
को गुरुस्तव तत्त्वज्ञ का शिक्षा वद मानद ।। ५ ।।

"हे सौम्य, हे मानद ! तुम्हारे इस नवीन वेप को देखकर मेरा मन आश्चर्य में है । तुम्हारा गुरु कौन है और उसकी शिक्षा क्या है—वह तुम मुझे बताओ ।। ५ ।।

सर्वज्ञश्चाद्वितीयोऽपि त्विक्ष्वाकोः वंशसंभवः ।
गुरुर्मे सुगतोऽस्तीति सम्यक् प्राहाश्वजित्ततः ।। ६ ।।

तब अश्वजित् ने कहा—"इक्ष्वाकु के वंश में जन्म लेने वाले, सर्वज्ञ और अद्वितीय सुगत (बुद्ध) मेरे गुरु हैं ।। ६ ।।

अज्ञोऽहं साम्प्रतं विद्वन् ! धर्मस्य शरणं गतः ।
अक्षमोऽपि मुनेः शिक्षां वच्मि संक्षेपतः शृणु ।। ७ ।।

हे विद्वान् ! मैं अज्ञानी हूँ और अभी-अभी ही धर्म की शरण में आया हूँ; अतः मुनि (बुद्ध) की शिक्षा वताने में असमर्थ हूँ । फिर भी संक्षेप में कहता हूँ, सुनो ।। ७ ।।

कारणादुद्भवा भावा व्याख्याताः परमर्षिणा ।
निरोधश्चापि मार्गश्च संव्याख्यातावुभाविह ।। ८ ।।

उन परम ऋषि ने सब धर्मों को कारण से उत्पन्न होने वाला कहा है । उन्होंने उनके निरोध और निरोधमार्ग की भी व्याख्या की है ।। ८ ।।

एतच्छ्रुत्वोपतिष्यस्य चक्षुर्धर्मे निरावृतम् ।
द्विजवर्यस्य तस्याभूदन्तः शुद्धं निरामयम् ।। ९ ।।

यह सुनकर उपतिष्य नामक उस श्रेष्ठ ब्राह्मण के नेत्र धर्म के विषय में खुल गये तथा उसका अन्तःकरण शुद्ध एवं निरामय (निर्दोष) हो गया ।। ९ ।।

अकर्त्ता चाप्यभोक्ता च क्षेत्रज्ञः कश्चिदीश्वरः ।
प्रकृत्या क्रियते सर्वं सर्वञ्च परिणामजम् ।।१०।।

'अकर्त्ता, अभोक्ता कोई क्षेत्रज्ञ ही ईश्वर है । प्रकृति ही सब कुछ करती है । सब कुछ परिणाम से होता है ।' ।। १० ।।

इति पूर्वं मतं तस्य ध्रुवमासीद् द्विजन्मनः ।
इदानीं तेन विज्ञातं नात्मास्तीति हि तत्त्वतः ।।११।।

इस प्रकार का मत उस ब्राह्मण को पहिले मालूम था किन्तु अब उसने जाना कि यथार्थ में कोई आत्मा है नहीं ।। ११ ।।

चतुर्विंशतितत्त्वानां सांख्योक्तानां कलेवरम् ।
संघातं तेन दोषाणां स्थूलानामेव संक्षयः ।।१२।।

'सांख्य शास्त्र में कहे गये चौबीस तत्त्वों का समूह ही शरीर है; अतः (अन्त में) उसके केवल स्थूल दोषों का ही नाश होता है ।' ।। १२ ।।

इति पूर्वं मतं तस्येदानीं बुद्धस्य शिक्षया ।
दोषाणामुभयेषां हि ज्ञातः साम्येन संक्षयः ।।१३।।

(किन्तु) यह उसका पूर्व विचार था । अब बुद्ध शिक्षा से उसका मत बना कि दोनों प्रकार के (स्थूल और सूक्ष्म प्रकार के) दोषों का समान रूप से नाश होता है ।। १३ ।।

अहंभावस्य नाभाव आत्मवादे तु संभवेत् ।
प्रदीपादित्ययोः सत्त्वे प्रकाशस्य क्षयः कुतः ।।१४।।

'आत्मा' (वाद) के मानने पर, अहंभाव की समाप्ति नहीं होती—ठीक ही है—सूर्य और दीपक, दोनों के रहने पर प्रकाश कैसे मिट सिकता है ? वह बना ही रहता है ।। १४ ।।

पद्मनालस्य भंगेऽपि तन्तूनां ग्रन्थनं यथा ।
कापिलेयं मतं तद्वद् बौद्धं प्रस्तरखण्डवत् ।।१५।।

कमल की नली के टूट जाने पर भी जिस प्रकार वह तन्तुओं से जुड़ी रहती है; इसी प्रकार कपिल का सांख्य मत है और बुद्ध का मत, पत्थर के टुकड़े हो जाने के समान है ।। १५ ।।

इति ज्ञात्वोपतिष्योऽसौ ननामाश्वजितं ततः ।
भिक्षामादाय सन्तुष्टो ययौ वेणुवनं प्रति ।।१६।।

यह जानकर उपतिष्य नामक वह ब्राह्मण अश्वजित् को प्रणाम करके, फिर भिक्षा लेकर और सन्तुष्ट होकर, वेणुवन की ओर चला गया ।। १६ ।।

आयान्तं शान्तगम्भीरं लब्धबोधस्मिताननम् ।
सदृशं ज्ञानविद्याभ्यां तं मौद्गल्यायनोऽवदत् ।।१७।।

उसको शान्त, गम्भीर बोध हो जाने के कारण प्रसन्नमुख, ज्ञान और विद्या के समान, आते हुए उस (अश्वजित्) से मौद्गल्यायन ने कहा ।। १७ ।।

स त्वमन्य इवाभासि किं धर्मेणासि संगतः ।
अपूर्वं दृश्यते धैर्यं नैषा शान्तिरकारणात् ॥१८॥

"तुम तेजस्वी जैसे प्रतीत होते हो । क्या तुम्हें धर्म की प्राप्ति हो गई है ? तुम्हारा धैर्य भी अपूर्व दीख रहा है । अवश्य ही यह शान्ति अकारण से नहीं हुई है ॥ १८ ॥"

प्रोक्तं तेन ततः सर्वं तत्त्वं बुद्धस्य सम्मतम् ।
श्रुतमात्रेण तस्यापि सम्यग् दृष्टिः समुद्गता ॥१९॥

तब उस (अश्वजित्) ने बुद्ध-सम्मत सम्पूर्ण तत्त्व को कह सुनाया और सुनने मात्र से ही उस मौद्गल्यायन की भी सम्यग् दृष्टि का उदय हो गया ॥ १९ ॥

कर्माशयविनिर्मुक्तः शुद्धचेता गुरुप्रियः ।
हस्तामलकवत्तत्त्वं ययौ पश्यन् गुरुं प्रति ॥२०॥

और वह कर्म रूपी आशय से मुक्त होकर, शुद्ध चित्त वाला, गुरु को प्रिय मौद्गल्यायन हाथ में आँवले के समान तत्त्व को देखता हुआ गुरु के पास गया ॥ २० ॥

शिष्यैः सहागतौ तौ द्वौ पश्यन्नाह महामुनिः ।
प्रधानशिष्ययोरेको ज्ञानी चान्यः कलाधरः ॥२१॥

शिष्यों के साथ आने वाले उन दोनों (अश्वजित् एवं मौद्गल्यायन) को देखकर, महामुनि (बुद्ध) ने कहा—"ये दोनो मेरे प्रधान शिष्य हैं । इनमें एक ज्ञानी है और दूसरा कलाओं को धारण करने वाला (दिव्य शक्ति वाला) है ॥ २१ ॥"

शान्त्यर्थिनौ युवां सम्यग् जानीतं धर्ममुत्तमम् ।
इति तौ मुनिना प्रोक्तौ मेघगंभीरया गिरा ॥२२॥

मेघ के नाद के समान गम्भीर वाणी में, उन दोनों से, मुनि ने कहा—"शान्ति के इच्छुक तुम दोनों उत्तम धर्म को भली-भाँति जानो ॥ २२ ॥"

तथागतस्य वाक्येन मन्त्रमुग्धाविचक्षणात् ।
परित्यक्तजटादण्डौ काषायवसनावृतो ॥२३॥

तथागत के शब्दों को सुनकर वे दोनों क्षण भर (के लिये) मुग्ध से रह गये और बाद में जटा और दण्ड को त्यागकर उन दोनों ने काषाय वस्त्र को धारण किया ॥ २३ ॥

तथाभूतौ समं शिष्यैर्नेमतुर्नतमस्तकौ ।
क्रमाच्च मुनिनादिष्टौ लेभाते नैष्ठिकं पदम् ।।२४।।

इस प्रकार होकर, उन दोनों ने अपने सभी शिष्यों के साथ, मस्तक झुका-कर, मुनि (बुद्ध) को प्रणाम किया तथा मुनि के द्वारा आदेश पाकर, क्रमशः नैष्ठिक पद को प्राप्त किया ।। २४ ।।

धनिको ब्राह्मणश्चान्यः काश्यपान्वयभास्करः ।
संत्यक्तदारसम्पत्तिर्निर्वाणेप्सुः समाययौ ।।२५।।

एक ओर काश्यप वंश में सूर्य के समान अन्य, धनी ब्राह्मण ने आकर अपनी पत्नी और सम्पत्ति का त्याग किया तथा निर्वाण की इच्छा से यहाँ आया ।। २५ ।।

ब्रह्मपुत्रकचैत्यस्य समीपे कनकप्रभम् ।
धर्मध्वजस्य दण्डाभं स सर्वज्ञं ददर्श ह ।।२६।।

(इस ब्राह्मण ने) ब्रह्मपुत्रक चैत्य के समीप बैठे हुए, स्वर्णाभ (धर्म रूपी ध्वज के दण्ड की शोभा के समान) सर्वज्ञ (बुद्ध) को देखा ।। २६ ।।

ननाम शिरसा दूराद् जगादोच्चैः कृताञ्जलिः ।
शिष्यस्तेऽहं गुरोऽन्धस्य प्रकाशो भव सुव्रत ।।२७।।

दूर से ही सिर झुकाकर, प्रणाम करके, हाथ जोड़कर, ऊँचे स्वर में वह बोला—"हे गुरु ! मैं तुम्हारा शिष्य हूँ । हे सुव्रत ! तुम इस अन्धकार के प्रकाश बन जाओ ।। २७ ।।

तमुवाच ततो बुद्धो वाग्जलैः परितर्पयन् ।
ईप्सितज्ञाननिर्वाणमाशयं तस्य मार्जितुम् ।।२८।।

तब अपनी वाणी रूपी जल से उसे तृप्त करते हुए बुद्ध ने, उसके इच्छित ज्ञान और निर्वाण (मुक्ति) रूपी आशय को शुद्ध करने के लिये, यह कहा ।।२८।।

मार्गयन् शाश्वतीं शान्तिं शुद्धं ज्ञानञ्च नैष्ठिकम् ।
आगतोऽसि द्विजश्रेष्ठ ! स्वस्ति त इह आस्यताम् ।।२९।।

"हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! तुम शाश्वत शान्ति को खोजते हुए तथा शुद्ध नैष्ठिक ज्ञान की इच्छा से आये हो । तुम्हारा कल्याण हो । आओ । यहाँ बैठो" ।। २९ ।।

गतव्यथाय शुद्धाय निर्वाणपदलिप्सवे ।
वशंवदाय सर्वज्ञः सारतो धर्ममादिशत् ।।३०।।

उन सर्वज्ञ (बुद्ध) ने, व्यथाहीन, शुद्ध, निर्वाण पद को पाने की इच्छा रखने वाले, वशंवद उस (ब्राह्मण) को धर्म के सार का उपदेश किया ॥ ३० ॥

दीप्तबुद्ध्या द्विजो धर्मं विज्ञायाशु तथागतात् ।
विख्यातो धर्मनिष्णातो महाकाश्यपतां गतः ॥३१॥

अपनी तेज बुद्धि के द्वारा, तथागत से धर्म को शीघ्र ही जानकर, वह (ब्राह्मण) धर्म में निष्णात (चतुर) हुआ और महाकाश्यप कहलाया ॥ ३१ ॥

अहं मम स्थिति द्वयं चात्मैवेति पुराश्रुतम् ।
भिन्नश्चापि शरीरस्थो नेत्थं तेनाधुना मतम् ॥३२॥

"मैं, और 'मेरा' यह दोनों ही आत्मा हैं" यह मत पहले मानता था । वह शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न (शरीर में) भी है"—यह भी मानता था । "लेकिन ऐसा नहीं है"—यह आज समझा ॥ ३२ ॥

पावित्र्यं व्रतशीलाभ्यां पूर्वमैच्छन्न तत्तथा ।
कारणं यन्न तत्पूर्वं स मेने जगतो द्विजः ॥३३॥

पहले उसने व्रत और शील के द्वारा पवित्रता पानी चाही थी; लेकिन वह वैसा नहीं है; जो पहले संसार का कारण मानता था; वह भी कारण नहीं है—यह बात उस ब्राह्मण ने मानी ॥ ३३ ॥

अद्यावधि भ्रमित्वाऽद्य सुपथं लब्धवानसौ ।
जज्ञौ चतुर्णां सत्यानां क्रमं शङ्कां बिभेद च ॥३४॥

आज तक भटकते हुए उसने आज ही अच्छे मार्ग को पाया है । आज ही वह चारों सत्यों के क्रम को जान गया है और शंका को नष्ट कर चुका है ॥ ३४ ॥

यत्कामवशगा लोका संमुह्यन्ति मुहुर्मुहुः ।
अनर्थं च मलं ज्ञात्वा तं कामं मूलतो जहौ ॥३५॥

जिस काम के वश में होकर लोग वारम्बार मोह में पड़ते हैं, उस काम को अनर्थ और मल समझकर (उस ब्राह्मण ने) समूल त्याग कर दिया ॥ ३५ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च सर्वभूतहिते रतः ।
मुक्तमानसरोगोऽसावात्मारामो बभूव ह ॥३६॥

शत्रु और मित्र में समान सब भूतों के हित में रत होकर मानस रोग से छूटकर वह आत्माराम हो गया ॥ ३६ ॥

रूपञ्च प्रतिघातञ्च जहौ संज्ञां च तच्छिताम् ।
ज्ञात्वा रूपगतान् दोषान् रूपासक्तिमथात्यजत् ॥३७॥

(उसने) रूप तथा उसके प्रतिघातों को त्यागा और संज्ञा (रूपगत नाम) का विच्छेद किया तथा रूपगत दोषों को जाना, इसलिये रूप में होने वाली आसक्ति का त्याग किया ॥ ३७ ॥

देवानां रूपहीनानां ध्यानान्निर्वाणमित्यपि ।
मूढानां तन्मतं ज्ञात्वा शून्यं चित्तमवाप सः ॥३८॥

'रूप रहित देवाताओं के ध्यान से निर्वाण होता है—' ऐसा समझकर उसने चित्त की शून्यावस्था को प्राप्त किया ॥ ३८ ॥

नदीवेगाक्षचापल्यं विघ्नमूलमनुस्मरन् ।
त्यक्तालस्यो जितात्मा स शान्तह्रद इवाभवत् ॥३९॥

नदी के वेग की तरह चंचल इन्द्रियों को विघ्न का मूल समझता हुआ (उसने) आलस्य को त्याग कर इन्द्रियों को जीता । तब वह सरोवर की तरह शान्त हो गया ॥ ३९ ॥

जीवनं क्षणिकं मत्वा कालव्यालगलस्थितम् ।
सर्वभूतसमः स्वस्थो मिथ्याहंभावमत्यजत् ॥४०॥

काल रूपी सर्प के मुख में स्थित जीवन को क्षणिक मानकर सब भूतों में समभाव और स्वस्थ होकर (उसने) मिथ्या अहं भाव का त्याग किया ॥ ४० ॥

ज्ञानदीपेन चाज्ञानमविद्यां योगविद्यया ।
भित्त्वाऽनित्याद्धि संसाराद्भिन्नं नित्यं ददर्श सः ॥४१॥

उसने ज्ञानदीप से अज्ञान, और योगविद्या से अविद्या को भेदकर, अनित्य संसार से भिन्न नित्य तत्त्व का दर्शन किया ॥ ४१ ॥

दश संयोजनैर्मुक्तो युक्तो भावनया त्विषा ।
बद्धाञ्जलिपुटः पश्यन् मुनिं तस्थौ समाहितः ॥४२॥

दस संयोजनों (बन्धनों) से मुक्त होकर तथा भावना की शिखा से युक्त होकर अंजलिपुट जोड़कर समाहित चित्त से मुनि को देखता हुआ स्थिर रहा ॥ ४२ ॥

क्षीणास्रवैः शीलसमाधिवुद्धि-
युक्तैस्त्रिशिष्यैश्च समावृतोऽसौ ।
त्रैविद्यकैर्वामनवत्समन्तात्
क्रान्तस्त्रिलोकीव रराज वुद्धः ॥४३॥

जिन्होंने आस्रवों को क्षीण कर दिया है एवं शील, समाधि तथा प्रज्ञा से युक्त हैं तथा तीन विद्याओं के ज्ञाता (त्रैविद्य) एक अपने अपने तीन शिष्यों से समावृत वह बुद्ध, तीनों लोकों को चारों ओर से आक्रान्त करने वाले वामन की तरह सुशोभित हुए ॥ ४३ ॥

इति श्री रामचन्द्रदासकृते उत्तर-
वुद्धचरितमहाकाव्ये महा-
शिष्याणां प्रव्रज्या नाम
सप्तदशः सर्गः

यह श्री रामचन्द्रदास कृत उत्तर वुद्ध
चरित महाकाव्य में "महाशिष्यों का
संन्यास लेकर जाना"
नामक सत्रहवाँ
सर्ग समाप्त
हुआ

अथ अष्टादशः सर्गः

अनाथपिण्डदस्य दीक्षा

॥ अठारहवाँ सर्ग ॥

अनाथपिण्डद की दीक्षा

उत्तरस्या दिशो भूपः सुदत्त इति विश्रुतः ।
आययौ दानशीलः स कौशलेयो धनाधिकः ॥ १ ॥

कोशल देश का सुदत्त नाम से विख्यात बड़ा धनवान राजा, उत्तर दिशा से आया । वह बड़ा दानशील था ॥ १ ॥

निवसन्तं मुनिं श्रुत्वा नृपो दर्शनलालसः ।
उपेत्य निशि सस्नेहं दण्डवन्निपपात सः ॥ २ ॥

मुनि यहाँ निवास करते हैं—ऐसा सुनकर दर्शनाभिलाषी वह राजा रात्रि में समीप गया और दण्डा की भाँति भूमि पर गिरकर बड़े अनुराग से प्रणाम किया ॥ २ ॥

तमुवाच मुनिश्रेष्ठो मनीषिन् धर्मवानसि ।
त्यक्तनिद्रः समायातः पश्य त्वं नैष्ठिकं पदम् ॥ ३ ॥

मुनिश्रेष्ठ ने राजा से कहा—"हे मनीषिन् ! तुम धर्मवेत्ता हो । दर्शन की लालसा से निद्रा त्यागकर, यहाँ आये हो । नैष्ठिक पद पाने के अधिकारी हो । वह पद देखो ॥ ३ ॥

धैर्यं शुद्धाशयत्वं च श्रद्धाधिक्यमुदारता ॥
पुण्यतस्त्वयि लक्ष्यन्ते गुणाश्चैतादृशो नृपः ॥ ४ ॥

हे राजन् ! धैर्य, आशय की शुद्धि, श्रद्धा की अधिकता और उदारता आदि इस प्रकार के उत्तम गुण, जो तुममें दीखते हैं वे तुम्हारे पुण्य के प्रभाव से हैं ॥ ४ ॥

लोके यशः परत्रापि फलमुत्तमदानतः ।
भवतीति परिज्ञाय धनं दीनाय दीयताम् ॥ ५ ॥

राजन् ! उत्तम (निष्काम) दान करने से लोक में उज्ज्वल यश तथा परलोक में उत्तम फल मिलता है। ऐसा समझकर दुःखियों को धन दो ॥ ५ ॥

शीलञ्चाचरणं शुद्धं क्रियतां यत्नतो बुध।
शीलादघविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ६ ॥

हे बुध ! शील और आचरण को प्रयत्नपूर्वक शुद्ध करो। शील से पाप-रहित होकर मनुष्य अनामय (निर्वाण) पद को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

कामासक्तिषु ये दोषा संन्यासेषु गुणाश्च ये।
तान् सदसद्विवेकेन पश्य त्वं दिव्यचक्षुषा ॥ ७ ॥

विषयासक्ति में जो दोष है तथा विषय-त्याग में जो गुण हैं, उन्हें तुम सत्-असत् विवेकरूपी दृष्टि से देखो ॥ ७ ॥

जन्मदुःखं जरादुःखं मृत्युदुःखं पुनः पुनः।
इति पश्यञ्जगत्सर्वं मुक्तये यत्नवान् भव ॥ ८ ॥

जगत् में बारम्बार जन्म लेने का दुःख, बुढ़ापे का दुःख एवं मृत्यु का दुःख देखते हुए (तुम) मुक्ति के लिये प्रयत्नशील हो जाओ ॥ ८ ॥

यथा जगदिदं सर्वमनित्यं त्रिदिवं तथा।
उभौ लोकौ प्रवृत्त्यैव प्रवृत्तिं त्वमतो जहि ॥ ९ ॥

जिस तरह यह सारा जगत् अनित्य है उसी तरह त्रिदिव (स्वर्ग) भी अनित्य है। ये दोनों लोक प्रवृत्ति से मिलते हैं। अतः तुम प्रवृत्ति का त्याग करो ॥ ९ ॥

यदनित्यं तदेव त्वं दुःखं विद्धि तथामयम्।
अनित्येऽनात्मके देहे धातुजेऽस्मिन् कुतः सुखम् ॥१०॥

जो अनित्य है उसी को तुम दुःख एवं रोग जानो। धातु निर्मित अनात्म एवं अनित्य इस देह में सुख कहाँ मिल सकता है ? ॥ १० ॥

दुःखं समुदयश्चातो निरोधश्च यथाक्रमम्।
व्युपशमश्च चत्वारि त्वार्यसत्यं विभाव्यताम् ॥११॥

दुःख, दुःख का समुदय (उद्गम) निरोध (विषय से निवृत्ति), उपशम (दुःख-नाश का उपाय), ये चार आर्य-सत्य की विभावना (जानकारी) करो ॥ ११ ॥

अस्तित्वञ्च विनाशश्च समौ जानीह्युभावपि।
तथाऽहन्त्वममत्वाभ्यां रिक्तं शून्यं च मायिकम् ॥१२॥

अस्तित्व (जीवन) विनाश (मृत्यु) दोनों को समान जानो तथा अहंत्व (मैं पन) ममत्व (मेरा पन) से रहित शून्य तथा मायिक जानो ॥ १२ ॥

इमं लोकं शरीरञ्च विद्धि धातुविकारजम् ।
अनित्याज्जीवनाच्चित्तं मुक्तमाशु विधीयताम् ॥१३॥

इस संसार को तथा शरीर को धातु का विकार जानो। अनित्य जीवन से चित्त को शीघ्र मुक्त करो ॥ १३ ॥

पच्यमानमिमं विश्वं विद्धि त्वं कालवह्निना ।
पश्यञ्जन्मजरादुःखमनिमित्तं विभाव्यताम् ॥१४॥

इस विश्व को काल-अग्नि में पकते हुए जानो। जन्म, वृद्धावस्था आदि दुःख को देखते हुए अनिमित्त (निर्गुण) आत्मा की विभावना (विशेष जानकारी) करो ॥ १४ ॥"

श्रुत्वा धर्म्यां मुनेर्वाचं लब्धधर्मफलो नृपः ।
अजानात्स्वस्य दुःखाब्धिं विश्वं च गोखुरं यथा ॥१५॥

राजा ने मुनि का धर्म सम्मत वचन सुनकर, धर्म का फल पा लिया। उस समय अपने दुःख समुद्र को एवं सम्पूर्ण विश्व को गोखुर (गाय के खुर से हुआ छोटा गड्ढा) के समान समझा ॥ १५ ॥

गृहस्थोऽपि नृपः श्रेयस्तत्त्वञ्चानुबभूव ह ।
तत्त्वबोधे वने वासः पूर्वासो वा न कारणम् ॥१६॥

गृहस्थ होने पर भी वह राजा श्रेय (मुक्ति) तथा तत्त्वज्ञान पा गया। तत्त्वबोध में वन का वास (संन्यास), पुर का वास (गृहस्थी) कारण नहीं है ॥ १६ ॥

मिथ्यादृष्टिर्गुणैर्बद्धश्चातत्त्वज्ञो विनश्यति ।
जितात्मानो रजोमुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥१७॥

मिथ्या दृष्टि (संसार को सत्य समझने वाले) तथा गुणों (विषयों) से बँधे हुए और अज्ञानी नष्ट होते हैं। किन्तु जितेन्द्रिय लोग राग से रहित होकर अनामय पद को पाते हैं ॥ १७ ॥

सम्यग् दृष्टिप्रभावेण शरदभ्रमिवामलः ।
नृपो मेने तदा विश्वं नाहेतुकं न चैश्वरम् ॥१८॥

सम्यग् दृष्टि उत्पन्न होने से राजा ने शरदकालीन निर्मल मेघ के समान

उज्ज्वल ज्ञान प्राप्त किया। उस समय उसने—'संसार अकारण बना है या ईश्वर रचित है'—यह नहीं माना ॥ १८ ॥

नास्ति किंचिदुपादानं परिणामादृतेऽस्य वै ।
तृष्णाप्रभृति दोषाणां परिणाममिदं जगत् ॥१९॥

"परिणाम के अतिरिक्त कोई दूसरा उपादान कारण इस विश्व का नहीं है। यह जगत् तृष्णा आदि दोषों का ही परिणाम है ॥ १९ ॥

ऐश्वरञ्चेदिदं विश्वं भवेन्नेत्थं व्यवस्थितम् ।
दुःखैर्नाभिभवेत्कश्चिन्नानायोनिं न संव्रजेत् ॥२०॥

यदि यह जगत् ईश्वर रचित होता तो इस तरह का व्यवस्थित नहीं होता तथा कोई प्राणी दुःख से पीड़ित नहीं होता और नाना योनियों में नहीं भटकता ॥ २० ॥

इच्छितानिच्छिते किञ्चिन्न संभूयाच्च देहिनाम् ।
यदि चैषां भवेत्किञ्चिदीश्वरस्यापि संभवेत् ॥२१॥

देहधारियों के लिये इच्छित अनिच्छित (अपनी इच्छा, अनिच्छा से) कुछ भी (कार्य या भोग) प्राप्त नहीं होता। यदि इनको (देहधारियों को) प्राप्त हो सकता होता तो ईश्वर को भी प्राप्त होना सम्भव होता ॥ २१ ॥

ईश्वरो यदि सत्यं चेद्विचिकित्सा कथं भवेत् ।
दुर्वदेन्न विपत्तौ च नान्यान् देवाँश्च पूजयेत् ॥२२॥

यदि सच में कोई ईश्वर होता तो ईश्वर के विषय में विचिकित्सा (सन्देह) नहीं होती। लोग विपत्ति में ईश्वर को दुर्वाद (अपशब्द) नहीं कहते तथा दूसरे देवों की पूजा नहीं करते ॥ २२ ॥

दृश्यमीशस्य संकल्प इत्यपि च न सिद्ध्यति ।
ईशेऽत्राविद्यमानेऽपि दृश्यस्य वर्तनं कथम् ॥२३॥

यह दृश्य (जगत्) ईश्वर का संकल्प है—यह भी सिद्ध नहीं होता। ईश्वर यहाँ विद्यमान नहीं है, फिर भी जगत् का संचालन हो रहा है; यह कैसे सम्भव हो सकता है ? ॥ २३ ॥

संकल्पस्यैव सातत्यं कर्त्तृत्वं संभवेद्यदि ।
संकल्प एव कर्त्ता स्यात् कथं नेशः स एव हि ॥२४॥

यदि ईश का संकल्प ही निरन्तर इस जगत् का संचालन कर रहा है तो वह संकल्प ही कर्त्ता माना जा सकता है और वही ईश्वर भी क्यों न माना जाय।

संकल्पेन विनैवेशः कुरुते चेदहैतुकम् ।
बालवत्परमेशस्य नाधिकारः स्वचेतसि ॥२५॥

यदि ईश्वर, बिना संकल्प के और बिना कारण जगत् रचता है तो वह बालक की तरह बुद्धिरहित है। अपने चित्त पर भी उसका अधिकार नहीं है ॥ २५ ॥

सुखं वा यदि वा दुःखं ददाति स्वेच्छया विभुः ।
इच्छाधीनः कथं कर्त्ता स्वतन्त्रः सोऽत्र संभवेत् ॥२६॥

यदि वह विभु परमात्मा अपनी इच्छा से लोगों को सुख या दुःख देता है तो वह इच्छा के अधीन कहलाया। फिर स्वतन्त्र कर्त्ता यह सिद्धान्त कैसे बनेगा ? ॥ २६ ॥

ईश्वरेप्सितकर्माणि मानवः कुरुते यदि ।
स एव फलभोक्ता स्यान्न नरः फलभाग् भवेत् ॥२७॥

यदि यह कहा जाय कि मनुष्य, ईश्वर की इच्छा से कर्म करता है तो फिर ईश्वर ही फलभोक्ता भी होना चाहिये मनुष्य नहीं ॥ २७ ॥

परिणतः स ईशस्तु जगद्रूपेण चेद्विभुः ।
तद्रूपत्वादतः सर्वे चेश्वरा एव नो नराः ॥२८॥

यदि यह कहा जाय कि वह व्यापक ईश्वर ही जगत् रूप में परिणत हो गया है, तब तो तद्रूप होने से सब मनुष्य ईश्वर ही हैं, मनुष्य नहीं ॥ २८ ॥

परप्रेरित ईशश्चेत्करोति न निजेच्छया ।
अनवस्था ततस्तस्माज् जगत्कर्त्ता न सिद्ध्यति ॥२९॥

यदि ईश्वर किसी अन्य की इच्छा से जगत् रचता है, तब वह भी किसी अन्य की। वह भी किसी अन्य की। इस तरह अनवस्था दोष के कारण जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं होगा ॥ २९ ॥"

एवं परस्परं दोषो दृष्ट ईशमते तथा ।
स्वभाववादिनां वादो दुष्टो दृष्टो नृपेण वै ॥३०॥

इस तरह उस राजा ने ईश्वरवादी सिद्धान्त में परस्पर दोष देखा तथा स्वभाववादियों का मत भी दूषित देखा ॥ ३० ॥

न कारणं स्वभावस्तु मतमेतन्न सन्मतम् ।
दृश्यते कारणाद्वीजात्कार्यमत्राङ्कुरात्मकम् ॥३१॥

'जगत् का कोई कारण नहीं है। स्वभाव से जगत् बनता है'—यह मत

सन्मत (दोष रहित सिद्धान्त) नहीं है । लोक में कारण रूप बीज से कार्य रूप अंकुर देखा जाता है ॥ ३१ ॥

एकः कर्त्ता न वस्तूनां बहूनां कारणं भवेत् ।
एकात्मकः स्वभावोऽयं कथं विश्वस्य कारणम् ॥३२॥

एक कर्त्ता अनेक वस्तुओं का कारण नहीं हो सकता है । फिर संकल्प एक है तो अनेकानेक वस्तु संघात स्वरूप विश्व का कर्त्ता कैसे हो सकता है ? ॥ ३२ ॥

स्वभावोऽयं विभुः प्रोक्तो विभुर्न परिणामकः ।
न चाप्युत्पादकस्तस्मान्न स्वभावो हि कारणम् ॥३३॥

यह स्वभाव विभु (व्यापक) कहा गया है, और विभु पदार्थ कोई परिणाम पैदा नहीं करता और न उत्पादक होता है । अतः स्वभाव कारण नहीं हो सकता ॥ ३३ ॥

व्यापित्वात्तस्य सर्वत्र समानं कारणं भवेत् ।
दृश्यते न्यूनमाधिक्यं तस्मात्सोऽत्र न कारणम् ॥३४॥

स्वभाव व्यापी है, अतः सब जगह समान रूप से विद्यमान होने के कारण सब वस्तु का कारण समान होना चाहिये था । (किन्तु) ऐसा नहीं है । जगत् में न्यून अधिक कारण दीखता है ॥ ३४ ॥

कारणानुविधायित्वात्कार्यस्येह च लक्ष्यते ।
निर्गुणस्य स्वभावस्य कथं सगुणहेतुता ॥३५॥

कारण के अनुसार कार्य होता है । यह प्रत्यक्ष है । तो निर्गुण स्वभाव सगुण जगत् का कारण कैसे हो सकता है ? ॥ ३५ ॥

अविकारी स्वभावश्चेत्कारणं संभवेत्ततः ।
कार्यजातमिदं सर्वं सविकारं कथं भवेत् ॥३६॥

यदि अविकारी स्वभाव जगत् का कारण हो सकता है—ऐसा मान लिया जाय तो यह कार्य संघात जगत् सविकारी कैसे होगा ? ॥ ३६ ॥

नित्यश्चोत्पादकश्चापि स्वभावः कारणं हि चेत् ।
कार्यस्य न च नाशः स्याद् दृश्यते न तु तत्तथा ॥३७॥

यदि कहा जाय कि नित्य स्वभाव उत्पादक भी है, अतः कारण हो सकता है; तब तो कार्य समुदाय का कभी नाश नहीं होना चाहिये था ॥ ३७ ॥

विषयेषु च भूतानां प्रवृत्तिस्तु स्वभावतः ।
स च नित्यस्त्वनावर्ती ततो मुक्तिरसंभवा ॥३८॥

प्राणियों की विषयों में प्रवृत्ति स्वभाव से ही होती है—ऐसा माना जाय, तव तो कभी मुक्ति नहीं हो सकती। क्योंकि स्वभाव नित्य एवं अपरिवर्तनशील है ॥ ३८ ॥

उत्पादकः स्वभावश्चेत्कार्यं चापि तथा भवेत्।
प्रवृत्तिः कार्यमात्रस्य न च सर्वत्र दृश्यते ॥३९॥

यदि स्वभाव को उत्पादक माना जावे तव तो कार्य को भी उत्पादक होना चाहिये था। किन्तु संसार में किसी भी कार्य को उत्पादक नहीं देखा जाता ॥ ३९ ॥

स्वभावस्य प्रवृत्तिस्तु न चित्तेन विभाव्यते।
फलन्तु दृश्यते तस्मात् स्वभावो नात्र कारणम् ॥४०॥

स्वभाव की प्रवृत्ति (कर्त्ता की प्रवृत्ति की तरह) मन से नहीं जानी जाती है; किन्तु फल मन से दीखता है। अतः स्वभाव कारण नहीं हो सकता ॥ ४० ॥

अचेतनः स्वभावश्च चेतनानां कथं त्वयम्।
कारणं संभवेत्तेषां गवादीनां च देहिनाम् ॥४१॥

स्वभाव अचेतन (जड़) है, तो फिर चेतन गौ, मनुष्यादि शरीरधारियों का कारण कैसे हो सकता है ॥ ४१ ॥

कारणं कंकणादीनां सुवर्णो दृश्यते सदा।
जगतः कारणं तद्वत्स्वभावो नाऽत्र दृश्यते ॥४२॥

कंकण आदि भूषणों का कारण स्वर्ण सदा प्रत्यक्ष दीखता है। स्वभाव कहीं प्रत्यक्ष नहीं दीखता। अतः स्वभाव जगत् का कारण नहीं हो सकता है ॥ ४२ ॥

कालोऽपि कारणं नास्ति मतः कालः सनातनः।
नैरन्तर्यात्प्रवृत्तेस्तु मोक्षो जातु न संभवेत् ॥४३॥

काल भी जगत् का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि काल सनातन है। तो सनातन कारण निरन्तर प्रवृत्त रहेगा। मोक्ष कभी नहीं हो सकता है ॥ ४३ ॥

कर्ता चेदेव पुरुषः सर्वो वाञ्छितमाप्नुयात्।
न कश्चित्स्वस्य दुःखस्य निमित्तं संभवेत्कचित् ॥४४॥

यदि कहा जावे कि पुरुष ही कारण है तो सब प्राणी अपना इच्छित फल प्राप्त क्यों नहीं करते? कोई भी व्यक्ति अपने दुःख का निमित्त स्वयं नहीं हो सकता है? ॥ ४४ ॥

ईप्सितं तन्न लभतेऽनीप्सितं लभते पुनः ।
पुरुषो हि पराधीनः कथं कर्त्ता भवेत्खलु ॥४५॥

इच्छित [सुखादि] वस्तु मिलती नहीं । अनिच्छित दुःखादि मिलते हैं । अतः यह पुरुष पराधीन प्रतीत होता है, तो कर्त्ता कैसे हो सकता है ॥ ४५ ॥

पुरुषो यदि कर्त्ता स्यादिष्टं कुर्यात्प्रयत्नतः ।
नानिष्टमारभेतात्र दृश्यते तूभयात्मकम् ॥४६॥

पुरुष यदि कर्त्ता होता, तो इष्ट कार्य करता । अनिष्ट (विरुद्ध) कार्य नहीं करता किन्तु दोनों प्रकार का कार्य करता हुआ देखा जाता है ॥ ४६ ॥

शुभं प्रयतते कर्तुमशुभात्तु बिभेत्यलम् ।
तथाप्यशुभमाप्नोति न शुभं चाधिगच्छति ॥४७॥

(वह पुरुष) शुभ कार्य करने का प्रयास करता है, अशुभ कार्य से डरता है । तिस पर भी अशुभ बन जाता है, शुभ नहीं कर पाता है ॥ ४७ ॥

शीतोष्णवातवर्षाभी रोगशोकादिभिः पुनः ।
निष्फलितोद्यमो लोको न स्वतन्त्रः कदाचन ॥४८॥

शीत गर्मी एवं वर्षा आदि से तथा रोग, शोक आदि से पुरुष का उद्योग निष्फल हो जाता है, अतः पुरुष स्वतन्त्र नहीं है ॥ ४८ ॥

हेतुभिर्दृश्यते कार्यं भूम्यादिभिर्द्रुमादिकम् ।
बीजादङ्कुरसंभूतिर्वृक्षात्फलसमुद्गमः ॥४९॥

यह जगत् निर्हेतुक (अकारण) भी नहीं है । पृथ्वी, जल आदि हेतु (कारण) से वृक्षादि कार्य एवं बीज से अंकुर तथा वृक्ष से फल देखा जाता है ॥ ४९ ॥

स्याच्चेदकारणं विश्वं न प्रवृत्तिस्तु कर्मणि ।
सर्वं सर्वस्य संभूयाद् ध्रुवा सिद्धिश्च संभवेत् ॥५०॥

यदि यह जगत् अकारण होता तो कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती, तथा सबको सब कुछ प्राप्त होता, एवं कर्म में निश्चित सिद्धि होती ॥ ५० ॥

निर्हेतुकं सुखं दुखं नराणां संभवेद्यदि ।
कर्मणः फलवैयर्थ्यं बोधगम्यश्च नो भवेत् ॥५१॥

प्राणियों को ये सुख-दुःख निर्हेतुक (बिना कारण) मिलते हों तो कर्मों का फल व्यर्थ हो जावे और अकारण होने से सुख-दुःख की प्रतीति नहीं होती ॥५१॥

इति चान्यत्त्च ये दोषा निष्कारणसकारणे।
सुदत्तोऽसौ सुतर्केण तानपश्यत्समाहितः ॥५२॥

ये और इसी तरह अन्य दोष सकारण तथा अकारण वाद में हैं, उन्हें राजा सुदत्त ने बड़ी सावधानी से सुन्दर तर्क के द्वारा देखा ॥ ५२ ॥

यत्कारणं न तल्लोका विदुस्ते सार्वभौमिकम।
चराचरमिदं विश्वं कारणेन बिना कथम् ॥५३॥

जो सार्वभौम कारण है उसे लोग नहीं जानते। यह चराचर विश्व विना कारण के कैसे हो सकता है ? ॥ ५३ ॥

लब्ध्वा सर्वोत्तमं दानं ज्ञात्वेत्थं सौगतं मतम्।
श्रद्धायुतः सुदत्तोऽसौ सादरं मुनिमब्रवीत् ॥५४॥

इस तरह सर्वोत्तम दान लाभकर तथा सौगत-सम्वन्धी मत का ज्ञान प्राप्त करके राजा सुदत्त श्रद्धा से गद्‌गद होता हुआ आदरपूर्वक मुनि से बोला ॥ ५४ ॥

श्रावस्तीनगरं मेऽस्ति हर्यश्वान्वयशासितम्।
निवासार्थं करिष्ये ते विहारं तत्र मानद ! ॥५५॥

हे मानद ! हर्यश्व (सूर्य) वंश से शासित श्रावस्ती नाम का मेरा नगर है। आप के निवास के लिये वहाँ विहार (मठ) वनाना चाहता हूँ ॥ ५५ ॥

प्रासादो वा वनं वापि निरालम्बस्य ते समम्।
तथापि तत्र चोषित्वा दीने मयि दयां कुरु ॥५६॥

निरालम्व (अनासक्त) आप के लिये राजभवन हो या वन हो, दोनों समान हैं। तथापि वहाँ निवास करके मुझ दीन पर कृपा करें ॥ ५६ ॥

ज्ञात्वा तस्याशयं युक्तं चन्द्रनिर्मलमानसः।
दातुमुत्कण्ठितं नम्रं तमाह शंसितव्रतः ॥५७॥

चन्द्रमा के समान निर्मल मन वाले दृढव्रती तथागत, राजा का आशय (विचार) युक्त (उचित) जानकर तथा नम्र एवं दान देने में उत्कंठित समझ कर उससे बोले—॥ ५७ ॥

धन्योऽसि वत्स निर्मुक्तो विद्युच्चपलवैभवात्।
तीर्थे धनस्य संत्यागात्फलं भवति निर्मलम् ॥५८॥

"धन्य हो वत्स ! विद्युत् के समान चंचल वैभव से निर्मुक्त (उदासीन) हो। तीर्थ (धर्म कार्य) में धन का त्याग करने से निर्मल फल होता है ॥ ५८ ॥

धर्मे तेऽभिरुचिर्नित्ये रमसे दानकर्मणि ।
सत्यं ह्यसंशयं द्रष्टुं क्षमोऽसि मुनिसम्मतम् ॥५९॥

धर्म नित्य (अविनाशी) है। उसमें तुम्हारी रुचि है। दान कर्म में रमते (प्रसन्न होते) हो। अतः मुनिसम्मत संशयरहित सत्य देखने में (जानने में) समर्थ हो ॥ ५९ ॥

दह्यमानाद् गृहाद्यावदुद्धृतं तद्धि रक्षितम् ।
प्लुष्टं कालाग्निना द्रव्यं यावद्दत्तं तदेव सत् ॥६०॥

जलते हुए घर में से जो कुछ भी निकाल लिया गया वही बचा कहलाता है। इसी तरह काल-अग्नि में जलते हुए द्रव्यादि में से जितना दान दे दिया गया वही सुरक्षित रहता है ॥ ६० ॥

दानमेवोत्तमं भोगं धनस्य मन्यते बुधः ।
मूढा विषयभोगाय रक्षन्ति धनमध्रुवम् ॥६१॥

विद्वान् जन दान को ही धन का उत्तम भोग मानते हैं। मूढ लोग विषय भोग के लिये नाशवान धन की रक्षा करते हैं ॥ ६१ ॥

काले पात्रे कृतं दानं रणे वीरस्य युद्धवत् ।
भोगिनो भीरवो नैव युद्धयन्ते प्राणगर्हिताः ॥६२॥

समय पर उत्तम पात्र में दिया गया दान, संग्राम में वीर पुरुष के वीरता पूर्वक लड़ने की भाँति है। मृत्यु से डरने वाले भीरु नहीं लड़ते हैं। इसी प्रकार विषयासक्त भोग दान नहीं करते हैं ॥ ६२ ॥

नित्यं दानरतोऽसक्तो दत्त्वा यश्च प्रमोदते ।
जनसंपूजितस्यास्य कृतिनः सफलो भवः ॥६३॥

जो प्राणी सदा अनासक्त होकर दानरत रहता है तथा दान देकर प्रसन्न होता है; वह कुशल है। जनता में उसका सम्मान होता है। उसका जीवन सफल है ॥ ६३ ॥

दानशीलः सुखी लोके दीर्घदुःखातिदूरगः ।
कृतसत्कर्मपुण्येन चान्तकाले न मुह्यति ॥६४॥

दानशील प्राणी संसार में भयंकर विपत्तियों से अत्यन्त पृथक् एवं सुखी रहता है तथा दान रूप सत्कर्म के पुण्य से मृत्यु के समय मोह में नहीं पड़ता है ॥ ६४ ॥

इह किञ्चित्फलं चास्तु परत्र तु महत्फलम्।
नहि दानेन सदृशं मित्रं लोकस्य विद्यते ॥६५॥

इस लोक में दान का फल चाहे न्यून (थोड़ी) हो, किन्तु परलोक में उसका महान् फल है। मनुष्य का दान के समान कोई अन्य मित्र नहीं है ॥६५॥

इह भूपः परत्रेन्द्रो भूत्वा भवति चेत्पुनः।
अपि तिर्यक्षु दाता चेच्छ्रेष्ठो भूत्वा प्रजायते ॥६६॥

दानी, इस लोक में यदि जन्म लेता है; तो राजा होता है। स्वर्ग में (वह दानी) देवताओं का राजा इन्द्र होता है। कदाचित् तिर्यग् योनि में भी (उस दानी का) जन्म हो तो सब में श्रेष्ठ होता है ॥ ६६ ॥

भोगास्तस्यानुगा दातुः स्वर्गश्च पुरतः स्थितः।
रक्षका देवतुल्यस्य शान्तिः शीलं क्षमा स्मृताः ॥६७॥

दानी देवता के समान है। भोग उसके पीछे चलते हैं। स्वर्गसुख आगे खड़े रहते हैं। शान्ति, शील एवं क्षमा उसके रक्षक होते हैं ॥ ६७ ॥

अमृतत्वस्य हेतुस्तद्दानं क्षेत्रं सुखस्य च।
प्रमोदस्य निधिश्चित्त-रोधस्य करणं स्मृतम् ॥६८॥

यह दान अमरता का हेतु है। सुख का क्षेत्र (उद्गम स्थान) है। आनन्द का निधि (खदान) तथा चित्त-निरोध का असाधारण कारण है ॥ ६८ ॥

समुदयस्य विज्ञानं निरोधस्य च लभ्यते।
दानेन मलमन्तःस्थं दातुः संक्षीयते ध्रुवम् ॥६९॥

दान से समुदय (दुःख का हेतु) का तथा निरोध (दुःखनाश) का विज्ञान (विशेष जानकारी) होता है तथा दाता का आन्तरिक मल अवश्य नष्ट होता है ॥ ६९ ॥

दानेनायात्यनासक्तिर्निर्मला धनकश्मलात्।
सस्नेहेन ददद्दाता क्रोधं जयति सत्वरम् ॥७०॥

दान करने से धन के पाप (अर्जन, रक्षण, व्यय आदि से होने वाले दुःख) से निर्मल अनासक्ति होती है। प्रेमपूर्वक देने वाला दाता तत्काल क्रोध को जीत लेता है ॥ ७० ॥

ग्रहीतुः परमानन्दं पश्यन् यश्च प्रमोदते।
तस्य मोहतमो दातुराशु नश्यत्यशेषतः ॥७१॥

जो दाता ग्रहीता का परम आनन्द देखकर प्रसन्न होता है, उस दाता का सम्पूर्ण मोह रूप अज्ञान शीघ्र नष्ट हो जाता है ॥ ७१ ॥

निर्वाणसाधनस्यैकमङ्गं दानमनेन तु ।
निर्वाणविघ्नरूपो यस्तृष्णादिः संप्रजीयते ॥७२॥

दान, निर्वाण साधन का एक प्रमुख अंग है। इससे निर्वाण के प्रबल विघ्न, तृष्णा आदि पर विजय होती है ॥ ७२ ॥

छायापुष्पफलाद्यर्थं वृक्षमाश्रयते जनः ।
शान्त्यर्थं वा धनार्थं वा दानमाश्रयते बुधः ॥७३॥

जैसे लोग छाया, पुष्प, फल आदि के निमित्त वृक्ष का आश्रय लेते हैं (वृक्ष लगाते एवं पालते हैं); वैसे ही विद्वान् शान्ति एवं धन के लिये दान का आश्रय लेते हैं (दान करते हैं) ॥ ७३ ॥

संचितस्यापि वित्तस्य पात्रे दानं तु रक्षणम् ।
गृहस्थोऽपि ददत्सारमादत्ते निर्मलं यशः ॥ ७४ ॥

संचित किये हुए धन की भी, सुपात्र में दान देना ही, रक्षा है। गृहस्थ भी दान देता हुआ सार एवं निर्मल यश प्राप्त करता है ॥ ७४ ॥

अन्नदानाद्बलं दत्तं सौन्दर्यं वस्त्रदानतः ।
वासदानान्मुनिभ्यस्तु सर्वं दत्तं मतं भवेत् ॥ ७५ ॥

अन्न दान देने वाला बल देता है। वस्त्र देने वाला सौन्दर्य देता है। किन्तु मुनियों के लिये निवास देने से सब प्रकार का दान दिया, कहलाता है ॥ ७५ ॥

सुखं वाहनदानेन प्रकाशो दीपदानतः ।
ज्ञानदानात्तु संदत्तमहार्यममृतं पदम् ॥ ७६ ॥

वाहन दान से सुख देता है। दीप दान से प्रकाश देता है। किन्तु ज्ञान देता हुआ अहार्य (कभी न मिटने वाला) अमर पद देता है ॥ ७६ ॥

भोगमेकेऽपरे कीर्तिं स्वर्गं चान्ये तु दानतः ।
वाञ्छन्ति त्वं निरुद्देशं ददासि धर्मवानसि ॥ ७७ ॥

कुछ लोग दान देकर भोग चाहते हैं, कुछ कीर्ति, एवं कुछ स्वर्ग चाहते हैं। तुम निरुद्देश (निष्काम) दान देते हो; अतः धर्मवेत्ता हो ॥ ७७ ॥

धन्योऽऽसि वत्स पुण्योऽसि पूर्णकामो भवाशु वै ।
रजस्तमोविनिर्मुक्तो लब्धज्ञानो हि गम्यताम् ॥ ७८ ॥

हे वत्स ! धन्य हो। पुण्यात्मा हो। शीघ्र ही सम्पूर्ण मनोरथ प्राप्त करो। ज्ञान प्राप्त करके रजः तथा तम से विनिर्मुक्त हो जाओ ।। ७८ ।।''

निर्माणार्थं विहारस्य लब्ध्वा चानुमतिं मुने।
हृष्टः सहोपतिष्येण सुदत्तोऽसौ ततो ययौ ।। ७९ ।।

मुनि से विहार-निर्माण की आज्ञा पाकर वह राजा सुदत्त बड़ा प्रसन्न हुआ एवं उपतिष्य के साथ वहाँ से चला गया ।। ७९ ।।

कोशलेन्द्रस्य राज्येऽसौ सर्वकालसुखावहम्।
भ्रमन् जेतवनं रम्यं ददर्श सुद्रुमाकुलम् ।।८०।।

उस राजा ने कोशलेन्द्र के राज्य में घूमते हुए, सब काल में सुख देने वाला, सुन्दर वृक्षों से सुसज्जित एवं मनोरम जेत नामक वन देखा ।। ८० ।।

क्रयार्थं प्राथितो गृध्नुर्जेतोऽदित्सुस्तमब्रवीत्।
पूरितामपि वित्तेन भूमिं दास्ये न कर्हिचित् ।।८१।।

उस वन को खरीद लेने की इच्छा से राजा ने जेत (वन का मालिक) से प्रार्थना की। किन्तु जेत बड़ा लोभी था। (अतः वह वन) नहीं देने की इच्छा से [वह जेत] राजा से बोला—धरती धन से पूर जावे—''इतनी कीमत देने पर भी मैं वह वन नहीं दूँगा ।। ८१ ।।''

तपोवनं चिकीर्षुस्तं ययाचे साग्रहं नृपः।
अक्षयञ्च धनं दत्त्वा धर्मार्थं स च चिक्रिये ।।८२।।

''तपोवन बनाने के लिए यह खरीद रहा हूँ''—इस तरह राजा ने जेत से आग्रहपूर्वक प्रार्थना करके तथा अक्षय धन देकर, वह वन धर्मार्थ खरीद लिया ।। ८२ ।।

तस्यौदार्यं सुदत्तस्य दृष्ट्वा जेतः शमान्वितः।
बुद्धरक्तः स बुद्धाय सर्वं जेतवनं ददौ ।।८३।।

राजा सुदत्त की ऐसी उदारता देखकर जेत को शान्ति मिली तथा बुद्ध में अनुरक्त होकर बुद्ध के लिये वह सारा वन दे दिया ।। ८३ ।।

एतस्मिन् द्रुमवीरुदाकुलवने रम्यप्रदेशे शुभे-
निर्मित्सुस्तदनाथपिण्डदमुनिर्दिव्यं विहारं वरम्।
निर्माणस्य विधौ नियुज्य प्रमुखं दान्तोपतिष्यं तयोः
निर्मातुं रभसं समारभत वै बुद्धानुरागान्वितः ।।८४।।

तब वृक्ष एवं लताओं से सघन, पवित्र उस रम्य प्रदेश में दिव्य विहार

बनवाने की इच्छा से, अनाथपिण्डद मुनि ने दान्त (निर्माण-कर्म-कुशल) उपतिष्य को निर्माण-कार्य में प्रमुख निर्माता नियुक्त करके, बुद्ध में अत्यन्त अनुराग करते हुए शीघ्रातिशीघ्र बनवाना प्रारम्भ कर दिया ॥ ८४ ॥

शक्त्या तस्य च वैभवस्य च पुनर्ज्ञानस्य मूर्तिर्हि तत्
कौवेरं भवनं दिवो भुविगतं लोकोत्तरं वै पुनः ।
लक्ष्म्या उत्तरकोशलस्य च पुनः सौभाग्यमत्यद्भुतं
प्राप्तेः क्षेत्रमिवाभवद्धि सततं बोधामृतस्याक्षयम् ॥८५॥

इति श्रीरामचन्द्रदासकृते उत्तरबुद्धचरित-महाकाव्ये
अनाथ पिण्डस्य दीक्षा नाम अष्टादशः सर्गः ॥

वह विहार, उस राजा की शक्ति की, उसके वैभव की, एवं उसके ज्ञान की मूर्ति के समान हुआ । मानो कुबेर का भवन स्वर्ग से पृथ्वी पर आ गया हो, ऐसा लोक-विलक्षण हुआ । (वह विहार) उत्तर कोशल नरेशों की राज्यलक्ष्मी के अद्भुत सौभाग्य की तरह, शोभित हुआ, एवं बोध (ज्ञान) अमृत की निरन्तर प्राप्ति का अक्षय क्षेत्र की तरह बना ॥ ८५ ॥

यह श्री रामचन्द्रदासकृत उत्तर बुद्धचरित महाकाव्य में
"अनाथ पिण्डों की दीक्षा" नामक
अठारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ एकोनविंशः सर्गः

पितृपुत्रसमागमः

पिता-पुत्र समागम

ज्ञानेनानेकशास्त्रज्ञान् बुधान् बुद्धो विजित्य वै ।
राजगृहाद्विनिर्गत्य पितू राज्ञः पुरं ययौ ॥ १ ॥

तब बुद्ध, ज्ञान के द्वारा अनेक शास्त्रज्ञ विद्वानों को जीतकर, राजगृह से निकले एवं अपने पिता, जो राजा थे, के नगर को गये ॥ १ ॥

ततः प्रव्रजितैर्गच्छन् सहस्रैर्भिक्षुभिर्वृतः ।
पितुः पुरोपकण्ठं स तस्थौ तमनुकम्पयन् ॥ २ ॥

वहाँ से सहस्रों परिव्राजक भिक्षुओं से घिरे हुए चले एवं पिता के ऊपर अनुकम्पा कर, उनके नगर के समीप ठहर गये ॥ २ ॥

श्रुत्वा गुप्तचरैर्बुद्धं लब्धलक्ष्यमुपागतम् ।
पुरोहिता अमात्याश्च नृपमेत्य व्यजीज्ञपन् ॥ ३ ॥

पुरोहित तथा अमात्यों ने गुप्तचरों से सुना कि बुद्ध लक्ष्य प्राप्त करके लौटे हैं, तब राजा के पास जाकर निवेदन किया ॥ ३ ॥

आर्यस्यागमनं ज्ञात्वा चानन्दाश्रुप्लुताननः ।
दिदृक्षुस्त्वरितं राजा सपौरः सोत्सुको ययौ ॥ ४ ॥

आर्य का आगमन जानकर आनन्द-अश्रु से आप्लुत (तराबोर) मुख वाले राजा (बुद्ध को) देखने की इच्छा से पुरवासियों सहित उत्सुकता के साथ सहसा चल पड़े ॥ ४ ॥

शिष्यैरावृतमारात्तं ब्रह्माणमृषिभिर्यथा ।
दृष्ट्वा यानं जहौ पद्भ्यां ययौ धर्ममनुस्मरन् ॥ ५ ॥

ऋषियों से घिरे हुए ब्रह्मा की भाँति उन्हें (अपने पुत्र गौतम बुद्ध को) शिष्यों से घिरे हुए, सम्मुख देखकर, धर्म विचार करके यान (सवारी) को त्याग दिया तथा पैदल ही पास तक गये ॥ ५ ॥

विलोक्य मुनिवेषं तं स्तब्धवाग् विकलेन्द्रियः ।
शशाक न मुनिं वक्तुं न सुतं विस्मितो नृपः ॥ ६ ॥

मुनिवेष में उन्हें देखकर, राजा का मन विह्वल हो गया और वाणी अवरुद्ध हो गई। विस्मय में पड़कर (राजा), न तो उन्हें 'मुनि' कह सके और न 'पुत्र' ही कह सके ॥ ६ ॥

आत्मानं भूषितं वीक्ष्य भिक्षुवेषं सुतं तथा।
राजा साश्रुमुखः क्षुब्धो विललापाकुलेन्द्रियः ॥ ७ ॥

स्वयं को वस्त्रालंकार से भूषित तथा युवक पुत्र को मुनि-वेष में देखकर, राजा के नेत्रों से अश्रु-प्रवाह बह चला। हृदय क्षुब्ध एवं इन्द्रियाँ व्याकुल हो गईं। राजा विलाप करने लगे ॥ ७ ॥

निर्ममं निस्पृहं पुत्रं विलोक्य हतधीर्नृपः।
संशुष्कं ह्रदमासाद्य पिपासुः पथिको यथा ॥ ८ ॥

ममता एवं स्नेह से रहित पुत्र को देखकर, शुष्क जलाशय (सूखा तालाब) देखकर तृषित पथिक की तरह, राजा हताश हो गया ॥ ८ ॥

चित्रार्पितमिवासीनमुदासीनं प्रियं सुतम्।
अपि पश्यन् पुरो भूपो न लेभे पुत्रजं सुखम् ॥ ९ ॥

चित्रलिखित, उदासीन बैठे, अपने प्रिय पुत्र को सम्मुख देखने पर भी राजा 'पुत्र-दर्शन' का आनन्द न पा सके ॥ ९ ॥

मान्धातुरिव यस्य स्यान्निखिला सागराम्बरा।
वसुन्धरा कथं सोऽद्य भिक्षामटति भिक्षुवत् ॥१०॥

समुद्र ही है वस्त्र जिसका ऐसी सम्पूर्ण पृथ्वी, मान्धाता की तरह (यदि) इनके (बुद्ध के) अधिकार में होती तो वह (बुद्ध) आज भिक्षु की तरह किस प्रकार भिक्षा माँगते फिरते हैं ? ॥ १० ॥

धैर्ये यो मेरुणा तुल्यः प्रतापे रविसन्निभः।
कान्तौ च शशिसंकाशोऽश्नुते भैक्ष्यं तथापि सः ॥११॥

जो, धैर्य में मेरु के सदृश, प्रताप में सूर्य के सदृश, कान्ति में चन्द्रमा के सदृश हैं, तथापि वे भिक्षा अन्न खाते हैं ॥ ११ ॥

इदानीमपि पुत्रं मां मन्यते जनको मम।
इति ज्ञात्वा ततो बुद्धः उत्पपात घनोपरि ॥१२॥

'मेरे पिता अभी भी मुझे पुत्र मानते हैं'—ऐसा जानकार बुद्ध वहाँ से मेघ के ऊपर उड़ गये ॥ १२ ॥

पवनोपरि चक्रास पस्पर्श च रवे रथम्।
जग्राहानेककायान् स पुनरेकं चकार च ॥१३॥

(वे बुद्ध) वायु के ऊपर घूमने लगे। बुद्ध ने सूर्य का रथ-स्पर्श किया तथा अनेक शरीर ग्रहण किये; फिर एक शरीर बना लिया ॥ १३ ॥

विवेश भुवि निर्बाधं पदातिः सलिलेऽगमत्।
पर्वतस्योदरेऽधावद् यथाकाशे विहङ्गमः ॥१४॥

(वे बुद्ध) पृथ्वी में निर्विघ्न प्रवेश कर गये, जल के ऊपर चले, पर्वत के उदर में इस प्रकार दौड़े जैसे आकाश में पक्षी दौड़ता है ॥ १४ ॥

अवर्षयज्जलं भूरि कायार्धेन समेघवत्।
अर्धाङ्गेन प्रजज्वाल यथाऽकाशे दिवाकरः ॥१५॥

वे बुद्ध आधे शरीर से मेघ के समान प्रभूत जल बरसाये एवं आधे शरीर से ऐसे प्रज्वलित हुए जैसे आकाश में सूर्य ॥ १५ ॥

एवं प्रमोदयन् भूपं दर्शयित्वा स्ववैभवम्।
अन्यो रविरिवाकाशे तिष्ठन् धर्मं दिदेश सः ॥१६॥

इस प्रकार उन बुद्ध ने अपने योगवैभव (ऋद्धि-सिद्धि) दिखाकर राजा (अपने पिता) को आनन्दित किया तथा अपर सूर्य की तरह आकाश में स्थित रहकर (वे) धर्मोपदेश करने लगे ॥ १६ ॥

राजन् जानामि ते भावं पुत्रवत्सल मा शुचः।
पुत्रानन्दं परित्यज्य धर्मानन्दः प्रगृह्यताम् ॥१७॥

"हे राजन्! आपका भाव जानता हूँ। हे पुत्रवत्सल! (आप) शोक न करें। पुत्रानन्द का परित्याग कर, धर्मानन्द का अनुभव करें ॥ १७ ॥

कस्मैचित्केनचित्पूर्वं पुत्रेण पितृणाऽथवा।
न दत्तं न गृहीतञ्च निबोधैतन्महामृतम् ॥१८॥

आज से पूर्व किसी पुत्र ने पिता को, तथा पिता ने पुत्र को जो न दिया, न लिया हो, वह बोध रूप महान् अमृत ग्रहण करें ॥ १८ ॥

स्वभावः कारणं भूप विपाकश्चाश्रयस्तथा।
एतच्चतुर्विधं विद्धि रहस्यं कर्मणां नृप ॥१९॥

हे भूप! कर्म का स्वभाव, कर्म का कारण तथा कर्म का विपाक एवं कर्म का आश्रय—ये चार रहस्य हैं। हे नृप! इसे जानें ॥ १९ ॥

कर्मभिश्चाखिलं लोकमावद्धं विद्धि सुव्रत ! ।
तस्मात्त्वं कुरु तत्कर्म येन लोके हितं भवेत् ॥२०॥

हे सुव्रत ! यह सम्पूर्ण विश्व कर्म से आवद्ध है, ऐसा जानें । अतः ऐसा कर्म करें कि जो जगत् में हितकर हो ॥ २० ॥

मृत्युकाले न ते राज्यं न भृत्या न च बान्धवाः ।
अशुभं वा शुभं कर्म केवलं त्वाऽनुयास्यति ॥२१॥

मृत्यु काल में न तो यह राज्य, न भृत्यवर्ग, न बन्धुवर्ग, (अपितु) केवल शुभ या अशुभ कर्म ही आपका अनुगमन करेंगे ॥ २१ ॥

मित्रं लोकस्य सत्कर्म शत्रुश्चान्यत् प्रचक्ष्यते ।
जगतः कर्मणो ज्ञानं सरहस्यं च चिन्तय ॥२२॥

सत्कर्म, प्राणी का मित्र है । पाप कर्म, शत्रु कहा जाता है । अतः जगत् के कर्म-ज्ञान रहस्यसहित प्राप्त करें ॥ २२ ॥

स्वर्गे वा नरके मर्त्यो भ्राम्यते कर्मभिर्नृप ।
त्रिधैव कर्मभेदाः स्युर्जगतः कारणं त्रिधा ॥२३॥

हे नृप ! मर्त्य (प्राणी) कर्म से ही स्वर्ग अथवा नरक में घूमते (जन्म लेते) हैं । कर्म के तीन ही (शुभ, अशुभ तथा मिश्रित) भेद हैं तथा ये ही तीन, जगत् के कारण हैं ॥ २३ ॥

सम्यग्रूपेण चात्मानं द्विवर्गे योजयत्वतः ।
मनसो वचसः कृत्यं शोध्यतां शान्तिमाप्नुहि ॥२४॥

अतः आप अपने को द्विवर्ग (धर्म-मोक्ष) में सम्यग् रूप से लगाइये । मन और वाणी का कृत्य (कर्म) शोधिये, एवं शान्ति प्राप्त कीजिये ॥ २४ ॥

अब्धिवीचिमिवात्यन्तं ज्ञात्वा विश्वं तु चञ्चलम् ।
कर्मासक्तिमुदासीनश्छेद्यतां धर्म्यकर्मणा ॥२५॥

संसार को समुद्र की तरंग के समान अत्यन्त चंचल जानकर, उदासीन रहते हुए, धार्मिक कर्म के द्वारा कर्मासक्ति को काट डालें ॥ २५ ॥

ग्रहमण्डलवद्विश्वं शश्वद् भ्रमति सर्वशः ।
काले पतति देवोऽपि मर्त्यलोकस्य का कथा ॥२६॥

ग्रहमण्डल की नरह, यह ब्रह्माण्ड निरन्तर तेजी से घूम रहा है । समय पर देवता भी गिर जाते हैं (फिर) मनुष्य-प्राणी का क्या कहना ? ॥ २६ ॥

आत्मानन्दः परानन्दो निर्वाणं परमं सुखम् ।
ऐश्वर्यस्य सुखं लोके ससर्पगृहवासवत् ॥२७॥

आत्मा का आनन्द, परम आनन्द है। निर्वाण, परम सुख है। ऐश्वर्य का सुख तो संसार में, सर्प वाले घर में निवास के सदृश है ॥ २७ ॥

इमं लोकं विपद्ग्रस्तं ज्वलदग्निगृहोपमम् ।
अतः पदं जन्मजरामृत्युरिक्तं विमृग्यताम् ॥२८॥

यह संसार, अग्नि से जल रहे घर की भाँति, विपत्ति से ग्रस्त है। अतः जन्म-वृद्धत्व आदि से रहित पद की खोज करें ॥ २८ ॥

जय त्वं कामरागाणां शत्रूणां महतीं चमूम् ।
जितायां नृप ! तस्यां तु जयशेषो न विद्यते ॥२९॥

हे राजन् ! काम-राग आदि की बहुत बड़ी सेना को जीतें। उसके जीत लेने पर (अन्य कुछ भी) जीतना शेष नहीं रहता है ॥ २९ ॥

दुःखसमुदयो दुःखमुपशमश्च तत्सृतिः ।
विज्ञातेषु हि चैतेषु मलं भीतिर्विनश्यतः ॥३०॥

दुःख, दुःख का समुदय (उद्गम), उपशम, दुःखनाश तथा दुःखनाश का मार्ग—ये सब जान लेने पर मल (अज्ञान), भीति (भय) नष्ट हो जाते हैं ॥ ३० ॥

इति श्रुत्वा वचस्तस्य दृष्टतद्वैभवो नृपः ।
सन्तुष्टश्च सहोल्लासैः प्रश्रयावनतोऽब्रवीत् ॥३१॥

राजा इस प्रकार उनके वचन सुनकर तथा उनका वैभव देखकर सन्तुष्ट एवं प्रफुल्लित हुए तथा प्रेम से नम्र होते हुए बोले—॥ ३१ ॥

घोरदुःखान्महामोहात् कृपयार्य ! विमोचितः ।
तात ! ते सफलं जन्म पुत्रवानस्मि चाधुना ॥३२॥

"हे आर्य ! आपने कृपा करके मुझे, महामोह रूप घोर दुःख से छुड़ा लिया। हे तात ! आपका जन्म सफल है। अब मैं पुत्रवान् हूँ ॥ ३२ ॥

नृपश्रीरुज्झिता स्थाने स्थाने त्यक्ताः प्रिया जनाः ।
स्थाने सुदुस्तपस्तप्तं स्थाने मयि दया कृता ॥३३॥

आपने राज्य-लक्ष्मी का त्याग किया; वह ठीक ही किया है तथा प्रिय जनों का त्याग भी ठीक ही किया है। सुदुष्कर तप भी ठीक ही किया है और मुझ पर उचित कृपा की है ॥ ३३ ॥

पूर्वं राजर्षिवर्य्यैश्च ब्रह्मर्षिभिश्च नार्जितम् ।
तज्ज्ञानं भवता लब्धमार्तत्राणाय नैष्ठिकम् ॥३४॥

पूर्व काल में श्रेष्ठ राजर्षियों ने तथा ब्रह्मर्षियों ने जो प्राप्त नहीं कर सके वह नैष्ठिक ज्ञान आपने दुःखियों की रक्षा के लिये प्राप्त किया है ॥ ३४ ॥

अभविष्यद्भवान्राजा चक्रवर्ती च चेत्ततः ।
नादास्यत्सुखमस्मभ्यो दीयते च यथाऽधुना ॥३५॥

यदि आप चक्रवर्ती राजा भी होते तो भी हम लोगों को उतना सुख नहीं दे सकते थे जितना आज दे रहे हैं ॥ ३५ ॥

अपास्यत्केवलं लोकान् राजा भूत्वा गृहे वसन् ।
भवचक्रं मुनिर्भूत्वा छित्त्वा तानुद्धरिष्यसि ॥३६॥

आप राजा होकर, घर में रहते हुए, केवल प्राणियों का पालन ही कर सकते थे किन्तु मुनि होकर तो भवचक्र छेदकर उनका उद्धार कर सकेंगे ॥ ३६ ॥

ज्ञानेन सिद्धिभिश्चैव भवचक्रं जितं त्वया ।
विना राज्येन लोकस्य सम्राडिव हि राजसे ॥३७॥

आपने ज्ञान तथा सिद्धि के द्वारा भव चक्र को जीत लिया है (तथा) बिना राज्य के सम्पूर्ण लोक के सम्राट् की तरह शोभा पा रहे हैं ॥ ३७ ॥"

एवमुक्त्वा भृशं भूपो धीरः सत्यसमाश्रितः ।
पुत्रं ननाम धर्मज्ञो राजा चापि पितापि सन् ॥३८॥

बारम्बार ऐसा कहकर सत्य को जानते हुए धर्मज्ञ राजा ने पुत्र को प्रणाम किया । यद्यपि वे राजा थे तथा पिता भी थे ॥ ३८ ॥

योगैश्वर्येण बोधेन युक्तं पित्रा च सत्कृतम् ।
विलोक्य बहवो बुद्धं गृहत्यागे मनो दधुः ॥३९॥

उस समय योग-ऐश्वर्य से सम्पन्न और पिता से सत्कार पाये हुए बुद्ध को देखकर बहुत से लोगों ने घर त्यागने का निश्चय किया ॥ ३९ ॥

अनेके राजपुत्राश्च श्रुतधर्मा विरञ्जिताः ।
रुदतो बान्धवान् भोगान् प्रियान् प्रियजनाञ्जहुः॥४०॥

अनेक राजकुमार धर्म सुनकर विरक्त हो गये । रोते हुए बन्धुओं, प्रियजनों एवं प्रिय भोगों को त्याग दिये ॥ ४० ॥

कृमिलश्चोपनन्दश्च कुण्डधान्योऽनिरुद्धकः ।
आनन्दश्चापि नन्दश्च श्रुतधर्मा जहुर्गृहम् ॥४१॥

कृमिल, उपनन्द, कुण्डधान्य, अनिरुद्धक, आनन्द और नन्द ने बुद्ध से धर्म सुनकर घर त्याग दिया ॥ ४१ ॥

मिथ्योपदेशकस्तेषां देवदत्तस्तथा ययौ ।
उदायिर्गुरुपुत्रश्च मार्गं सोऽनुससार तम् ॥४२॥

उन राजकुमारों को मिथ्या उपदेश करने वाले देवदत्त (उपदेशक ब्राह्मण) ने भी उसी तरह घर त्याग किया तथा उदायि नामक गुरुपुत्र ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया ॥ ४२ ॥

दृष्ट्वा तान् प्रस्थितान् सर्वानुपालिश्चात्रिनन्दनः ।
सर्वं त्यक्त्वा निमेषेण मतं जग्राह सौगतम् ॥४३॥

अत्रिनन्दन उपालि ने उन सबों को प्रस्थित (भिक्षुमार्ग पर आरूढ) देखकर एक क्षण में सब कुछ त्याग कर, सौगत मत ग्रहण कर लिया ॥ ४३ ॥

सुतस्यालोक्य वैराग्यं राजा शुद्धोदनस्ततः ।
राज्यं भ्रातृषु चाधाय राजर्षिवत्समाचरत् ॥४४॥

तब राजा शुद्धोदन अपने पुत्र का वैराग्य देखकर भाइयों को राज्यभार सौंपकर राजर्षि जैसा रहने लगे ॥ ४४ ॥

दीक्षितैस्तैश्च पौरैश्च साकं बुद्धः पुरं ययौ ।
अश्रुक्लिन्नाननाः पौराः मुहुः पुष्पाण्यवाकिरन् ॥४५॥

उन दीक्षितों तथा पुरवासियों के साथ बुद्ध, नगर में गये । अश्रु बहाते हुए पुरवासियों ने बारम्बार पुष्पवर्षा की ॥ ४५ ॥

श्रुत्वा राजकुमारस्य नगरागमनं तदा ।
सहसान्तःपुरादेत्य नार्यो वातायने स्थिताः ॥४६॥

तब राजकुमार का नगर में आगमन सुनकर स्त्रियाँ अन्तःपुर से सहसा खिड़कियों पर आकर देखने लगीं ॥ ४६ ॥

मुनिवस्त्रावृतस्यापि सन्ध्याभ्रलीनभानुवत् ।
कान्तिमत्तस्य वदनं विलोक्याश्रूणि तत्यजुः ॥४७॥

मुनि-वस्त्र (वल्कल) धारण किये होने पर भी, सन्ध्याकालीन मेघ में छिपे सूर्य की कान्ति के सदृश, देदीप्यमान उनका मुखमण्डल देखकर स्त्रियों ने रो दिया ॥ ४७ ॥

अधोदृष्टिं प्रशान्तञ्च तपसा दीप्तदीधितिम् ।
तमालोक्याकुला नार्यो दीनाः प्रोचुः परस्परम् ॥४८॥

नीचे की ओर मुख किये शान्तचित्त, तप के तेज से प्रकाशित बुद्ध को देखकर दीन और विह्वल होती हुई स्त्रियाँ परस्पर यों बोलने लगीं ॥ ४८ ॥

कन्थायाः परिधानेन शिरसा मुण्डितेन च ।
तिरोहितेऽपि सौन्दर्ये तेजसा तु महानसौ ॥४९॥

"कन्था धारण करने तथा सिर मुड़ाने से यद्यपि इनका सौन्दर्य ढक गया है फिर भी (वे) तेज से महान् प्रतीत हो रहे हैं ॥ ४९ ॥

छत्रचामरयुक्तैश्च सायुधैः सैनिकैः सह ।
गमनार्होऽप्यसौ मह्यां दधद्याति कमण्डलुम् ॥५०॥

शस्त्रधारी सैनिकों के बीच छत्र-चँवर से सज्जित होकर चलने योग्य, ये आर्य, कमण्डलु लिये पृथ्वी पर पैदल चल रहे हैं ॥ ५० ॥

वाहनं च भवेद्यस्य गजवाजिरथादिकम् ।
भिक्षापात्रं वहन् सोऽद्य भिक्षामटति नित्यशः ॥५१॥

जिनके पास हाथी-घोड़ा-रथ आदि वाहन होते, वे आज भिक्षापात्र लेकर सदा भिक्षा मांगते-फिरते हैं ॥ ५१ ॥

सस्पृहं तरुणीभिर्यो वस्त्रालंकारभूषितः ।
गच्छेन्निरीक्ष्यमाणः स याति दृष्टिमधो दधत् ॥५२॥

जो वस्त्र तथा अलंकार से अलंकृत होकर मार्ग में जब चलते थे तब तरुणियाँ स्नेह-पूर्वक देखती थीं, वे नीचे शिर किये जा रहे हैं ॥ ५२ ॥

अन्वेषयति किं तत्त्वं यतो वेषमिमं दधौ ।
पुत्रदारसुखं हित्वा व्रतेन मोदते कथम् ॥५३॥

कौन सा तत्त्व खोजते हैं ये, जो कि ऐसा वेष धारण किये हैं ? तथा स्त्री-पुत्र आदि का सुख छोड़कर इस व्रत से प्रसन्न हैं ॥ ५३ ॥

कियच्छोकाकुला नूनं राजपुत्री यशोधरा ।
तथापि खलु सा धीरा ह्यधुना ध्रियते यतः ॥५४॥

राजपुत्री यशोधरा निश्चय ही शोक से कितना व्याकुल होगी ? तथापि निश्चय ही वह बड़ी धीर है जो कि अभी भी जी रही है ॥ ५४ ॥

पूर्णचन्द्राननस्यास्य प्रियपुत्रस्य तापसम् ।
वेषं विलोक्य किं राजा मोदमापाथवा शुचम् ॥५५॥

पूर्ण चन्द्रिका के सदृश मुख वाले अपने प्रिय पुत्र का तापसवेष देखकर, राजा क्या प्रसन्न हुए होंगे अथवा दुःखी हुए होंगे ॥ ५५ ॥

अश्रुक्लिन्नमुखं वीक्ष्य राहुलं स्वसुतं यदि।
नानुरज्येदसौ तर्हि व्रतमस्यास्ति दुष्करम् ॥५६॥

अश्रु से व्याप्त अपने प्रिय पुत्र राहुल का मुख देखकर यदि इन्हें मोह नहीं हुआ, तब तो इनका व्रत बड़ा कठिन है ॥ ५६ ॥

महाव्रतकृशस्यास्य लावण्यं त्वक्षतं ध्रुवम्।
नूनं जितात्मनाऽनेन शान्तिर्लभे सुनिश्चला ॥५७॥

इस महाव्रत से इनका शरीर क्षीण हो गया है, किन्तु सौन्दर्य निश्चित ज्यों का त्यों है। अवश्य ही इन जितेन्द्रिय ने अत्यन्त निश्चल शान्ति प्राप्त की है ॥ ५७ ॥

विलपन्तीषु नारीषु तासु चैवं स्वसौ पुनः।
लब्धभिक्षस्त्वनासक्तो न्यग्रोधवनमाययौ ॥५८॥

इस तरह स्त्रियाँ विलाप करती हुईं, इन्हें देख रही थीं, किन्तु अनासक्त (बिना प्रभावित हुए) बुद्ध, भिक्षा लेकर न्यग्रोध वन को चले गये ॥ ५८ ॥

ये लोकाः किल पुण्यकर्मरहिता दानेऽक्षमा भिक्षवे
ये चापि श्रमणा मनोजयविधौ शक्ता न तुष्टा न च।
ते मोक्षं कथमाप्नुयुश्च जगतः श्रेयः कथं संभवे-
दित्थं वै मनसा स्मरन् स नगरं गत्वा पुनश्चागतः ॥५९॥

इति श्रीरामचन्द्रदासकृते उत्तरबुद्धचरितमहाकाव्ये
पितृपुत्रसमागमो नाम एकोनविंशः सर्गः

जो संसारी लोग पुण्य कर्म से रहित हैं, भिक्षुओं को भिक्षा देने में असमर्थ हैं, और जो श्रमण (संन्यासी) अभी तक मन को जीतने में समर्थ नहीं हुए हैं तथा शान्ति प्राप्त नहीं कर सके हैं; उन्हें मोक्ष कैसे प्राप्त होगा? तथा संसार का हित कैसे होगा? इन सब बातों को मन में सोचते हुए, नगर में जाकर भी पुनः लौट आये (अर्थात् मैं घर में रह जाऊँगा तो उपर्युक्त काम पूरा नहीं होगा) ॥ ५९ ॥

यह श्री रामचन्द्रदासकृत उत्तरबुद्धचरित महाकाव्य में
"पितापुत्र समागम" नामक उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ

अथ विंशतितमः सर्गः

जेतवनस्वीकृतिः

जेतवन-स्वीकृति

ततः कपिलवस्तौ वै कालं कञ्चिदुवास सः।
दयां कुर्वञ्जनौघे हि जगदात्मा जनप्रियः ॥ १ ॥

तब वे जगत् के आत्मा, लोकप्रिय तथागत जनसमूह पर दया करते हुए कपिलवस्तु में कुछ काल तक निवास किये ॥ १ ॥

संप्रतस्थे पुरं रम्यं प्रसेनजित्प्रपालितम्।
तमो भिन्दञ्जनान्तःस्थं तेजसा भास्करो यथा ॥ २ ॥

फिर अपने तेज से लोगों के अन्दर अज्ञान-अन्धकार को दूर करते हुए, प्रसेनजित् से परिपालित रम्य नगर को वैसे ही प्रस्थान किये जैसे सूर्य, किरणों से अन्धकार को दूर करते चलते हैं ॥ २ ॥

कैलासधवलैः सौधैः प्रफुल्लाशोकपङ्क्तिभिः।
रम्यं जेतवनं प्राप ततः कूजितकोकिलम् ॥ ३ ॥

वहाँ से चलकर कैलाश के समान सफेद अट्टालिकाओं से और फूले हुए अशोक वृक्षों की पंक्तियों से रम्य, जहाँ कोयल कुहुक रहे थे उस जेतवन को पहुँचे ॥ ३ ॥

स्वर्णमाली सुदत्तो वै कलशस्थजलैः शिवैः।
पुष्पादिभिश्च संपूज्य तस्मै जेतवनं ददौ ॥ ४ ॥

स्वर्ण की माला धारण किये राजा सुदत्त, कलश में पवित्र जल लेकर पुष्प आदि द्रव्य से पूजा करके तथागत को जेतवन दे दिया ॥ ४ ॥

तदा शाक्यमुनिं द्रष्टुं तं भूपालः प्रसेनजित्।
जेतारण्यमुपागम्य प्रणम्य श्रद्धयाऽवदत् ॥ ५ ॥

उस समय शाक्यमुनि (बुद्ध) का दर्शन करने के लिये राजा प्रसेनजित् जेतवन में आकर श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके बोला ॥ ५ ॥

सौभाग्यं कौशलेयानां यन्मुनेऽत्र निवत्स्यसि।
हतभाग्यास्तु ते देशा वञ्चितास्त्वादृशेन ये ॥ ६ ॥

"हे मुने कोशलवासियों का वड़ा सौभाग्य है क्योंकि आप यहाँ निवास करेंगे । वे देश अभागे हैं जो आप जैसों से वंचित हो गये हैं ॥ ६ ॥

दर्शनात्तव सर्वज्ञ ! कृतार्थोऽस्मि च सप्रजः ।
महतां दर्शनं पुण्यं केषाञ्चिदुपजायते ॥ ७ ॥

हे सर्वज्ञ ! आपके दर्शन से मैं प्रजासहित कृतार्थ हो गया । महापुरुषों का पुनीत दर्शन किन्हीं (भाग्यवानों) को होता है ॥ ७ ॥

वातोऽपि सुमनःसङ्गाद् गन्धवान् भवति क्षणात् ।
मेरुसंगात्स्वर्णरूपाः संभवन्ति पतत्रिणः ॥ ८ ॥

वायु भी पुष्प के संग से तत्काल सुगन्धित हो जाती है । सुमेरु (पर्वत) के संग से पक्षी सोने के हो जाते हैं ॥ ८ ॥

पूतं चैतद्वनं वासात् त्रैलोक्याधिपतेस्तव ।
गाधिपुत्रनिवासेन त्रिशङ्कोर्भवनं यथा ॥ ९ ॥

तीनो लोकों के अधिपति आपके निवास से यह वन पवित्र हो गया, जैसे गाधिपुत्र (विश्वामित्र) के निवास से त्रिशंकु का भवन पवित्र हुआ था ॥ ९ ॥

लोकेऽस्मिन् विविधा लाभा नाशशीला महामुने ।
केवलं तव सान्निध्यमविनाशि प्रतीयते ॥१०॥

हे महामुने ! इस संसार में विविध लाभ (धन-पुत्रादि) सब नाशवान हैं, केवल आपका सांनिध्य (सत्संग) अविनाशी प्रतीत होता है ॥ १० ॥

दर्शनं ते दयासिन्धो ! शश्वदस्त्वधमस्य मे ।
रागाच्च राजधर्माच्च साधो ! संपीडितोऽस्म्यहम् ॥११॥

हे दयासिन्धो ! मुझ अधम को निरन्तर आपका दर्शन होता रहे । हे साधो ! मैं राग से और राजधर्म से अत्यन्त पीड़ित हूँ ॥ ११ ॥

इन्द्रतुल्यस्य भूपस्य चैतच्छ्रुत्वा वचो मुनिः ।
कामलोभान्वितं मत्वा तमाह प्रेरयन्निव ॥ १२ ॥

इन्द्र के समान राजा (प्रसेनजित्) का यह वचन सुनकर उसे कामना एवं लोभ से युक्त समझकर, प्रेरणा देने की तरह वे (बुद्ध) बोले ॥ १२ ॥

सम्यग् व्यवस्थिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम ।
साधुषु समचित्तेषु यत्ते श्रद्धा बभूव ह ॥ १३ ॥

हे राजर्षियों में श्रेष्ठ ! तुम्हारी बुद्धि अच्छी तरह व्यवस्थित हो गई है जो कि समचित्त (समदर्शी) साधुओं में ऐसी श्रद्धा उत्पन्न हुई है ॥ १३ ॥

सङ्गं वाञ्छन्ति साधूनामार्याणां ये नरोत्तमाः ।
नूनमूर्ध्वमधः स्थानात्क्षिप्रं जिगमिषन्ति ते ॥ १४ ॥

जो नरश्रेष्ठ आर्य साधुओं का संग चाहते हैं वे सच में निम्न (नीचे) स्थान से शीघ्र ऊपर जाना चाहते हैं ॥ १४ ॥

किञ्चित्तुभ्यं हितं वच्मि यतस्ते चञ्चलं मनः ।
तच्छ्रुत्वाऽचर राजेन्द्र ! ह्यादेशः सफलो भवेत् ॥ १५ ॥

क्योंकि तुम्हारा मन चंचल है, अतः मैं कुछ तुम्हारे हित की बात कहूँगा। उसे सुनकर, हे राजेन्द्र ! आचरण में लाओ जिससे मेरा उपदेश सफल होवे ॥ १५ ॥

यदा कालो गृहीत्वा त्वां दृढं कर्क्ष्यति निष्ठुरः ।
न केऽप्यनुगमिष्यन्ति कर्म यास्यति केवलम् ॥ १६ ॥

जब निष्ठुर काल तुम्हें दृढ़ता से पकड़कर खींचेगा तब तुम्हारे साथ कोई नहीं जायगा; केवल तुम्हारा कर्म ही जायगा ॥ १६ ॥

चेत्काङ्क्षसि यशः शुभ्रं प्रजाः पालय धर्मतः ।
मोहाद्धर्मपरित्यागात्स्वर्गे स्थानं न विद्यते ॥ १७ ॥

यदि तुम उज्ज्वल यश चाहते हो तो धर्मपूर्वक प्रजा का पालन करो । मोह के कारण धर्मत्याग करने से स्वर्ग में स्थान नहीं मिलता है ॥ १७ ॥

स्वर्गं लेभे कृशाश्वः स भुवं धर्मेण पालयन् ।
धर्मच्युतो निकुम्भश्च काश्यां भुवि विवेश ह ॥ १८ ॥

उस कृशाश्व ने धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करने के कारण स्वर्ग प्राप्त किया और धर्म से पतित निकुंभ, काशी में पृथ्वी में समा गया ॥ १८ ॥

अशुभं च शुभं कर्म सौम्य ! तुभ्यमुदाहृतम् ।
धर्मेण पालयँल्लोकान् यशसे यत्नवान् भव ॥ १९ ॥

हे सौम्य ! मैंने शुभ-अशुभ कर्म का उदाहरण दिया । धर्म से संसार का पालन करते हुए यश के लिये प्रयत्नशील होओ ॥ १९ ॥

नोत्पीडय जनान् भद्र ! नेन्द्रियाणि स्वतन्त्रय ।
मा कुरु पापिनां सङ्गं मा देहि कुपथे मनः ॥ २० ॥

हे भद्र ! लोगों को उत्पीडित न करो । इन्द्रियों को स्वतंत्र न छोड़ो । पापियों का साथ न करो । कुमार्ग में मन न लगाओ ॥ २० ॥

माऽवमानय धर्मज्ञान् मा संपीडय तापसान् ।
पापे मनो दधज्जातु व्रतं पूतं च मा चर ॥ २१ ॥

धर्मज्ञों का अपमान न करो। तपस्वियों को पीड़ा न पहुँचाओ तथा पाप में मन लगाये हुये पवित्र व्रत मत करो ॥ २१ ॥

भव मा चाशुभालम्बी कुकर्माचरणं त्यज।
मदालसश्च मा भूयाः प्रसन्नमनसा शृणु ॥ २२ ॥

और अशुभ वासना का अवलम्ब (सहारा) न लो। कुत्सित कर्म का आचरण मत करो। मद से आलसी न बनो। प्रसन्न मन से सुनो (सत्संग करो) ॥ २२ ॥

मा नाशय यशः शुभ्रं माऽसत्यं यातु ते मनः।
यथाशास्त्रं बलिं भूमेस्तात ! चादातुमर्हसि ॥ २३ ॥

उज्ज्वल यश का नाश न करो। तुम्हारा मन कभी भी असत्य को स्वीकार न करे। हे तात ! शास्त्र में वर्णित (छठा अंश) पृथ्वी का कर लेना ही तुम्हें उचित है ॥ २३ ॥

मन आधाय सद्धर्मे साधुसङ्गं समाचर।
जन्मन्यस्मिँस्तथा साध्यं यथा स्यात्परमं पदम् ॥ २४ ॥

सद्धर्म (बुद्धधर्म) में मन लगाकर साधुओं का सत्संग करो। इस जन्म में ऐसा साधन करना चाहिये जिससे परम पद मिल सके ॥ २४ ॥

वीर्यं रक्षँस्तथा विद्यामर्जन् धैर्यं च धारयन्।
स्मरन् मृत्युं जितक्लेशः सन्मार्गमवलम्बय ॥ २५ ॥

वीर्य (ब्रह्मचर्य) की रक्षा करते हुए तथा विद्या (ज्ञान) का उपर्जन करते हुए एवं धैर्य धारण करते हुए, मृत्यु का स्मरण करते हुए क्लेश (अविद्या आदि) को जीतकर सन्मार्ग का आश्रय लो ॥ २५ ॥

दृष्टपूर्वफलं बीजं धीमान् वपति नान्यथा।
तथा त्वं कुरु तत्कर्म यस्य दृष्टं फलं पुरा ॥ २६ ॥

बुद्धिमान लोग, जिसका फल पहिले देख लिया गया हो, वैसा बीज बोते हैं; अन्यथा नहीं बोते। इसी तरह तुम भी ऐसा कर्म करो जिसका फल महात्माओं ने पहले देखा है ॥ २६ ॥

लोके तूच्चपदस्थोऽपि नरः पापरतो यदि।
प्रकाशस्थस्य चैतस्य चित्तं तमसि वर्तते ॥ २७ ॥

संसार में जो ऊँचे पद पर रहते हुए भी पाप में रत (लगा हुआ) रहता है, वह प्रकाश में रहता हुआ भी, उसका चित्त अन्धकार में है ॥ २७ ॥

यश्च धर्मरतो धीरश्चापि ख्याति-विवर्जितः ।
अन्धकारे स्थितेऽप्यस्य चित्तं ज्योतिषि वर्तते ॥ २८ ॥

जो धीर पुरुष धर्मपरायण रहता है, चाहे उसकी ख्याति न हो, वह चाहे अन्धकार में बैठा हो, उसका चित्त ज्योति में है ॥ २८ ॥

कुलीनस्य पदस्थस्य मनो धर्माद्विशुद्ध्यति ।
अकुलीनस्य नीचस्य पापात्तमसि लीयते ॥ २९ ॥

उच्च कुल के और उच्च पद के प्राणी का मन धर्म से विशुद्ध होता है। नीच कुल के और नीच प्राणी का मन पाप के कारण अन्धकार (अज्ञान) में लीन होता है ॥ २९ ॥

भोगलिप्सोः प्रवृत्तिस्तु निम्ना भवति नोत्तमा ।
एवं व्यवस्थिते राजन् ! यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ३० ॥

भोगलोलुप मनुष्य की प्रवृत्ति निम्नगामी होती है, उन्नतिशील नहीं हो सकती । हे राजन् ! ऐसी अवस्था में तुम जैसा चाहो वैसा करो ॥ ३० ॥

न कोऽपि कुशलं कर्म परार्थं कर्तुमर्हति ।
कृतेऽपि न फलं तस्य परस्मै भवति क्वचित् ॥ ३१ ॥

कोई भी प्राणी परमार्थ के लिये कुशल (पुण्य) कर्म करने योग्य नहीं है। यदि करे भी तो उसका फल दूसरे के लिये नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

यः कर्त्ता स हि भोक्ता स्यात्कर्मणस्तु फलं ध्रुवम् ।
नाकृतस्य फलं जातु कर्मणो निश्चितं भवेत् ॥ ३२ ॥

जो कर्ता है; वही भोक्ता है । कर्म का फल निश्चित होता है । जो कर्म नहीं किया गया हो उसका कभी भी कोई निश्चित फल नहीं होता है ॥ ३२ ॥

इहामुत्र फलं नास्ति कृतेन कर्मणा विना ।
न च जन्मविनाशः स्यात्तस्मात्सत्कर्मवान् भव ॥ ३३ ॥

कर्म किये विना इस लोक में अथवा परलोक में कोई फल (भोग) नहीं मिलता है और जन्म-मृत्यु का विनाश भी नहीं होता । अतः तुम सत्कर्म करने वाले बनो ॥ ३३ ॥

जीवलोके सुखं नास्ति तस्य पापरतस्य वै ।
स्वयंकृतस्य पापस्य फलं भोक्ष्यति चात्महा ॥ ३४ ॥

उस पापपरायण मनुष्य को इस जीवलोक में सुख नहीं मिलता है और वह आत्मघाती, परलोक में भी अपने किये हुए पाप का फल भोगेगा ॥ ३४ ॥

जन्ममृत्युजराव्याधिभिश्चतुर्भिर्नगोत्तमैः ।
दुःखैः समावृता मूढा भ्रमन्ति विवशाः सदा ॥ ३५ ॥

जन्म, मृत्यु, जरा (वृद्धावस्था), तथा व्याधि—ये चारों पर्वत के समान दुःख हैं। इनसे घिरे हुए मनुष्य मूढ (मार्गभ्रष्ट) पराधीन होकर संसार में सदैव भटकते रहते हैं ॥ ३५ ॥

निपतन्ति यदा दुःखान्येतानि विवशे नरे ।
नाप्यते प्रतिरोधश्चेद्धर्मो हि शरणं तदा ॥ ३६ ॥

जब ये दुःख परवश मनुष्य में आ पड़ते हैं, उस समय उनका विरोध (दुःखनाश का उपाय) नहीं सूझता है; तब धर्म ही एक मात्र शरण (रक्षक) होता है ॥ ३६ ॥

विद्युच्चलसनायुष्यं सुखं क्षणिकमैन्द्रियम् ।
जगन्मृत्युकराग्रस्थं धर्म एव हि निश्चलः ॥ ३७ ॥

आयु, विद्युत् की भाँति, थोड़ी देर चमकने वाली है। इन्द्रियजन्य सुख क्षणिक है। जगत् मृत्यु की मुट्ठी में स्थित है। केवल धर्म ही अचल है ॥ ३७ ॥

इन्द्रकल्पा नृपा युद्धे ये जिग्युर्विबुधानपि ।
शक्तिमन्तोऽपि ते तात ! बभुवुर्दुःखभागिनः ॥ ३८ ॥

हे तात ! इन्द्र के समान राजा लोग, जिन्होंने युद्ध में देवताओं को भी जीता है वे भी, अन्त में दुःखभागी हुए हैं ॥ ३८ ॥

धरणी लीयते मेरुर्दह्यते प्रलयाग्निना ।
काले शुष्यति सिन्धुश्च मर्त्यलोकस्य का कथा ॥ ३९ ॥

काल पाकर, पृथ्वी विलीन हो जाती है, प्रलय की अग्नि से सुमेरु जल जाता है, समुद्र भी सूख जाता है (तो) मनुष्य प्राणी की क्या गिनती है ? ॥ ३९ ॥

वायुस्तिष्ठति संभ्रम्य रविः संतप्य यात्यधः ।
संशाम्यति ज्वलित्वाग्निः सर्वं संपरिवर्ति हि ॥ ४० ॥

वायु चलकर रुक जाती है। सूर्य तपकर नीचे गिर जाता है। अग्नि जलकर बुझ जाती है। संसार में सब कुछ परिवर्तनशील है ॥ ४० ॥

पालयत्यनिशं देहं सावधानतया नरः ।
लालयत्युपभोगैश्च न तथापि स जीवति ॥ ४१ ॥

मनुष्य बड़ी सावधानी से शरीर को निरन्तर पालता है, अनेक उपभोगों से लालन (प्यार) करता है, तो भी नहीं जीता है ॥ ४१ ॥

इत्थं लोकस्थितौ लोका मानमोहमदान्विताः ।
शेरते सुखपर्यङ्के त्वं न स्वपिहि भूपते ! ॥ ४२ ॥

संसार की ऐसी स्थिति है। मनुष्य मान, मोह, मद से चूर होकर सुख से पलंग पर सोता है। हे भूपते ! तुम ऐसा न सोओ ॥ ४२ ॥

चलायां भवदोलायामारूढा मूढमानवाः ।
विश्रब्धा न तु पश्यन्ति चासन्नं मरणं ध्रुवम् ॥ ४३ ॥

चंचल संसाररूपी झूला पर चढ़े हुए मूढ मनुष्य संसार पर विश्वास कर रहे हैं; किन्तु निश्चित एवं समीप में आई हुई मृत्यु को नहीं देख पाते हैं ॥ ४३ ॥

परिणामेऽप्रियं यच्च तन्न सेव्यं त्वयाऽनघ ! ।
तत्कार्यञ्च न कर्त्तव्यं फलं यस्य तु कुत्सितम् ॥ ४४ ॥

हे निष्पाप ! जो परिणाम में अप्रिय (दुःखद) हो, उसका सेवन तुम्हें नहीं करना चाहिए तथा वह कार्य नहीं करना चाहिए जिसका फल कुत्सित (रोग-शोक देने वाला) हो ॥ ४४ ॥

न स मित्रं न यस्मिन्स्युर्मित्रोक्ताः शोभना गुणाः ।
न च तदुत्तमं ज्ञानं यत्र दुःखं व्यपोहति ॥ ४५ ॥

वह मित्र नहीं, जिसमें मित्र के वताये गये सुन्दर गुण न हों; इसी प्रकार वह उत्तम ज्ञान नहीं, जो दुःख को न मिटा सके ॥ ४५ ॥

ज्ञानं चेत्त्वयि राजेन्द्र ! पुनर्जन्म न ते ध्रुवम् ।
कथं चित्संभवेद्वत्स ! तदरूपं भविष्यति ॥ ४६ ॥

हे राजेन्द्र ! यदि तुम में ज्ञान है तो निश्चय है कि फिर से तुम्हारा जन्म नहीं होगा। और हे वत्स ! यदि किसी तरह (जन्म) हुआ भी तो वह रूप-रहित होगा ॥ ४६ ॥

अनित्यमशुभागारं पौनःपुन्यं कलेवरम् ।
चेद्दधासि न मुक्तस्त्वं विषयेभ्यो भविष्यसि ॥ ४७ ॥

अनित्य, अमंगल का घर, यह शरीर, यदि तुम बारम्बार धारण करते रहे तो जानो कि विषयों से मुक्त नहीं हो सकते हो ॥ ४७ ॥

कर्माधीना अरूपा हि देवा अपि न शाश्वताः ।
निवृत्त्यां मन आधत्स्व प्रवृत्त्यां शं न विद्यते ॥ ४८ ॥

रूप-रहित देवता भी कर्म के अधीन हैं तथा अनित्य हैं। तुम निवृत्ति में मन लगाओ। प्रवृत्ति में शान्ति नहीं है ॥ ४८ ॥

गतिस्थितिक्रियाधारं शरीरं दुःखहेतुकम्।
निर्वाणज्ञानतः क्षिप्रमृणं नश्यति दैहिकम् ॥ ४९ ॥

गति, स्थिति और क्रिया का आधार, शरीर दुःख का कारण है। निर्वाण का ज्ञान हो जाने से शीघ्र ही शारीरिक ऋण का नाश हो जाता है ॥ ४९ ॥

वासना जन्मनो बीजं दुःखं जन्मैव देहिनाम्।
अतो वासनया मुक्तः सर्वदुःखाद्विमुच्यते ॥ ५० ॥

वासना ही जन्म का मूल कारण है और प्राणियों का जन्म लेना ही दुःख है; अतः वासना से मुक्त हुआ (व्यक्ति) सब दुःखों से मुक्त हो जाता है ॥ ५० ॥

अरूपेषु सरूपेषु देवेष्वपि हि वासना।
विधत्तेऽतो पुनर्जन्मप्रवृत्तिर्न निवर्तते ॥ ५१ ॥

साकारों में, निराकारों में और यहाँ तक कि देवताओं में भी वासना होती है। इससे प्रवृत्ति का निवारण नहीं होता और इसलिये बार-बार जन्म होता है ॥ ५१ ॥

षण्णां कामादिभावानां क्षेत्रेषु विचरन्ति ये।
तेषां कथं पुनर्जन्म प्रवृत्तिर्निर्गमिष्यति ॥ ५२ ॥

जो लोग छः प्रकार की कामनाओं के क्षेत्र में विचरण करते हैं; कैसे उन लोगों का पुनर्जन्म या प्रवृत्ति रुक सकती है ? ॥ ५२ ॥

इदमेव परं ज्ञेयमिदमेव परा मतिः।
इदमेव परं ज्ञानमितो नान्यत्तु किञ्चन ॥ ५३ ॥

यही परम ज्ञेय है; अन्य नहीं। यही परम बुद्धि है; अन्य नहीं यही परम ज्ञान है; अन्य नहीं। इसे ही जानना चाहिये ॥ ५३ ॥

नैष धर्मो गृहस्थानामिति नैव वितर्कयेत्।
गृहस्थो वा वनस्थो वा यस्य शान्तिः स जीवति ॥ ५४ ॥

यह गृहस्थों का धर्म नहीं है—यह सोचना (तर्क-वितर्क करना) नहीं चाहिए; क्योंकि चाहे भवन में रहे अथवा वन में रहे, जो शान्ति प्राप्त करता है; वही (वास्तव में) जीता है ॥ ५४ ॥

घर्मार्ता प्रविशन्त्यप्सु मेघात्सर्वः सुखायते।
दीपेन दृश्यते सर्वं योगो मानं न वै वयः ॥ ५५ ॥

धूप से दग्ध हुआ जल में प्रवेश कर, सुखी होता है; मेघ की वर्षा से सबको सुख होता है। दीपक से (अन्धकार में) भी सब कुछ दिखता है; इसी तरह किसी की आयु (या वंश) नहीं (अपितु) योग ही मान (प्रमाण या आदरयोग्य) होता है ॥ ५५ ॥

निवसन्ति वने केचिज्जरायां जातु मानवाः ।
योगकर्मण्यसक्तास्ते व्रतभङ्गात्पतन्त्यधः ॥ ५६ ॥

कोई-कोई लोग कदाचित् बुढ़ापे में भी वन में निवास करते हैं, तब वे वहाँ योग कर्म में नहीं लगे रह सकते एवं अकर्मण्य हो जाते हैं; अतः व्रत के भंग हो जाने से उनका अधःपतन हो जाता है ॥ ५६ ॥

अन्ये गृहे स्थिताश्चापि स्वकर्मनिरताः सदा ।
अप्रमत्ता विशुद्धास्ते पदं गच्छन्ति नैष्ठिकम् ॥ ५७ ॥

अन्य (दूसरे) घर में ही रहकर सदा अपने कर्म में लगे रहते हैं। वे अप्रमत्त (सावधान) होकर पूर्ण शुद्ध रहते हैं और इस प्रकार नैष्ठिक पद को प्राप्त करते हैं ॥ ५७ ॥

तमोऽब्धौ वासनावीचौ जन्माम्भसि निमज्जिताः ।
वीर्यसुमत्यरित्राभ्यां ज्ञाननावा तरन्ति ते ॥ ५८ ॥

इस प्रकार के ये लोग अज्ञानान्धकाररूपी सागर में, वासनारूपी लहरों के बीच जन्मरूपी जल में डूबते-उतराते हैं, परन्तु वीर्य एवं अच्छी बुद्धिरूपी पतवारों के द्वारा, ज्ञानरूपी नाव से वे पार हो जाते हैं" ॥ ५८ ॥

एवं ज्ञात्वा नृपो धर्म्यं ज्ञानं मुनिमुखात्ततः ।
नश्वरं राज्यमालोच्य श्रावस्तीं पुनराययौ ॥ ५९ ॥

तब राजा उन मुनि गौतम के मुख से इस प्रकार धर्मयुक्त ज्ञान प्राप्त कर तथा अपने राज्य को नश्वर समझकर श्रावस्ती को पुनः लौट गया ॥ ५९ ॥

तथाभूतं नृपं दृष्ट्वा तीर्थिका ईर्ष्यया मुनिम् ।
शक्तिं दर्शयितुं प्रोचुः साग्रहं जेतुमिच्छया ॥ ६० ॥

राजा को इस प्रकार (झुकते हुए) देखकर, उन तीर्थिक (पंडित) लोगों ने (ईर्ष्या के साथ) मुनि (तथागत) से, उन्हें जीतने की इच्छा से आग्रह करते हुए, दिव्य शक्ति (का चमत्कार) प्रदर्शित करने के लिये कहा ॥ ६० ॥

भूपतेरनुरोधेन जितात्मा मुनिपुङ्गवः ।
दर्शयितुं स्वमाहात्म्यं दिव्यं समुपचक्रमे ॥ ६१ ॥

राजा के भी अनुरोध (करने) पर उन जितेन्द्रिय मुनिपुंगव ने अपना दिव्य माहात्म्य (चमत्कार) दिखाना प्रारम्भ किया ॥ ६१ ॥

ताराव्यूहं प्रभाहीनं कुर्वन् रविरुदेति हि ।
तथा स्वतेजसा दीप्त उदगात्तु विनायकः ॥ ६२ ॥

जिस प्रकार सूर्य, तारकसमूह को प्रभाहीन करके, उदित होता है; उसी प्रकार वे तथागत अपने तेज से प्रदीप्त होकर उदित (प्रकाशित) हुए ॥ ६२ ॥

अपि चान्यां महाश्चर्यां दिव्यां शक्तिं प्रदर्श्य वै ।
नानामतगुरून् सर्वांस्तान् विजित्य तुतोष सः ॥ ६३ ॥

और भी दूसरी बहुत सी अत्यन्त आश्चर्यजनक दिव्य शक्तियों का प्रदर्शन करके, तथा उन सब विविध मतमानी गुरुजनों को पराजित कर; उन्होंने सन्तुष्ट किया ॥ ६३ ॥

श्रावस्तीवासिभिः सम्यक् पूजितः सिद्धिदर्शनात् ।
धर्मं ग्राहयितुं बुद्धो मातरं त्रिदिवं ययौ ॥ ६४ ॥

सिद्धि का दर्शन हो जाने के कारण, उन श्रावस्तीवासियों के द्वारा पूजित वे बुद्ध अपनी माता को धर्म की दीक्षा देने के लिये त्रिदिव (स्वर्ग) को चले (ऊपर चढ़) गये ॥ ६४ ॥

दिदीक्षे मातरं तत्र चातुर्मास्यमुवास च ।
भिक्षां जग्राह देवेभ्यः प्रतस्थेऽतो भुवं प्रति ॥ ६५ ॥

वहाँ उन्होंने माता को दीक्षा दी। वहाँ चतुर्मास निवास किया एवं देवों से भिक्षा ग्रहण कर पुनः पृथ्वी की ओर प्रस्थान किया ॥ ६५ ॥

देवाः शान्तिमुपागताः सुमनसः स्वे स्वे विमाने स्थिता
नेत्रैस्तं त्वनुसंपतन्त इव ते दूरादपश्यँश्चिरम् ।
उत्का भूपगणाः पतङ्गप्रतिमं सम्मानयन्तो भुव-
श्चोच्चैः साञ्जलयो जगुर्जयरवं नेमुस्त ऊर्ध्वानना ॥ ६६ ॥

इति श्रीरामचन्द्रदासकृते उत्तरबुद्धचरितमहाकाव्ये
"जेतवनस्वीकृति"र्नाम विंशतितमः सर्गः

देवगण शान्ति को प्राप्त हुए और स्वच्छ हृदय से आकाश में अपने-अपने विमानों पर बैठे हुए, अपने नेत्रों से उन्होंने नीचे (पृथ्वी की ओर) अनुकरण करने की भाँति (नेत्रों द्वारा नीचे गिरने के समान) बुद्ध को दूर से बहुत देर

तक देखा और पृथ्वी से बहुत से राजाओं ने ऊँचा मुख करके, सूर्य के समान तेजस्वी उन बुद्ध का सम्मान करते हुए, हाथ जोड़कर, ऊँचे स्वर में, उनका जयजयकार करते हुए, उन्हें प्रणाम किया ॥ ६६ ॥

यह श्रीरामचन्द्रदासकृत उत्तरबुद्धचरित महाकाव्य में
"जेतवन-स्वीकृति" नामक बीसवाँ सर्ग
समाप्त हुआ

अथ एकविंशः सर्गः

प्रव्रज्यास्रोतः

प्रव्रज्यास्रोत

[संन्यास का झरना]

देवांश्च मातरं स्वर्गे दीक्षयित्वा तथागतः।
दीक्षितव्याञ्जनाँश्चान्यान् भुवि बभ्राम दीक्षितुम् ॥ १ ॥

स्वर्ग में अपनी माता तथा देवों को दीक्षा देकर तथागत ने भू (लोक—पृथ्वी) पर अन्य दीक्षा पाने योग्य लोगों को दीक्षित करने के लिये भ्रमण किया ॥ १ ॥

ज्योतिष्कं जीवकं शूरं श्रोणमङ्गदकं तथा।
पञ्चपर्वतमध्यस्थे ग्रामे दीक्षितवानसौ ॥ २ ॥

उन्होंने पाँच पहाड़ों के बीच में बसे गाँव में, ज्योतिष्क, जीवक, शूर, श्रोण एवं अङ्गदक को दीक्षा दी ॥ २ ॥

अभयोपालिश्रीगुप्तन्यग्रोधानां महीभुजाम्।
मतं निवर्तयामास मतद्वन्द्वानुगामिनाम् ॥ ३ ॥

तथा उन्होंने दो अन्तों (नित्यता और विनाश) के मत को मानने वाले, अभय, उपालि, श्रीगुप्त, न्यग्रोध आदि राजाओं को उस मत से विमुख कर दिया ॥ ३ ॥

दिदीक्षे पुष्करं बुद्धो गान्धारनृपतिं तथा।
योऽसौ दीक्षितमात्रेण राज्यलक्ष्मीं द्रुतं जहौ ॥ ४ ॥

बुद्ध ने गान्धार (देश) के राजा पुष्कर को भी दीक्षा दी; जिन्होंने दीक्षित होते ही शीघ्र ही राज्य-लक्ष्मी का त्याग कर दिया ॥ ४ ॥

ततो विपुलतेजस्वी विपुले पर्वते पुनः।
हैमवतं च साताग्रं यक्षौ द्वौ समुपादिशत् ॥ ५ ॥

तब फिर उन महान् तेजस्वी (बुद्ध) ने विपुल नामक पर्वत पर हैमवत और साताग्र नामक दो यक्षों को भी उपदेश दिया ॥ ५ ॥

जीवकाम्रवने रात्रौ भार्यापञ्चशतान्वितम् ।
दिदीक्षेऽजातशत्रुं स धर्मे धर्मविदां वरः ॥ ६ ॥

जीवक के आम्रवन में रात्रि के समय (अपनी) पाँच सौ भार्या के साथ अजातशत्रु को धर्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ बुद्ध ने बौद्ध धर्म में दीक्षित किया ॥ ६ ॥

पाषाणपर्वते बुद्धः पारायणमहीसुरम् ।
आर्धीगाथोक्तज्ञानेन दिदीक्षे शम्परायणाम् ॥ ७ ॥

तव बुद्ध ने पाषाण पर्वत पर कल्याण (शान्ति) में परायण, पारायण नामक श्रेष्ठ ब्राह्मण को आधी गाथा के सौम्य अर्थ द्वारा दीक्षित किया ॥ ७ ॥

साध्वी नन्दस्य जननी चाददे वेणुकण्टके ।
दीक्षां ततो ददर्शासौ भुवि गुप्तं धनं दृशा ॥ ८ ॥

तव नन्द की साध्वी माता ने वेणुकंटक नामक स्थान पर (बुद्ध से) दीक्षा ली । वह भूमि में छिपे धन को अपनी दृष्टि से देखा करती थी ॥ ८ ॥

स्थाणुमती पुरे रम्ये कूटदत्तद्विजं जिनः ।
धर्मे प्रवेशयामास तं यियक्षुं निरामयम् ॥ ९ ॥

तव उन जितेन्द्रिय बुद्ध ने स्थाणुमती नामक सुन्दर नगर में यज्ञ की इच्छा करने वाले नीरोग कूटदत्त ब्राह्मण को निर्वाण धर्म में प्रवेश कराया (दीक्षा दी) ॥ ९ ॥

ततः पञ्चशिखादीनामसुराणां दिवौकसाम् ।
धर्मे बभूव विश्वासो विदेहाद्रन्वग दृढम् ॥ १० ॥

तव विदेह नामक पर्वत पर पंचशिख आदि राक्षसों (असुरों) और सुरों को धर्म में दृढ़ विश्वास हो गया ॥ १० ॥

श्रेष्ठ पिङ्गलचण्डाश्च दण्डश्वेतादयः पुरे ।
अङ्गे नागास्तथा यक्षः पूर्णभद्रश्च दीक्षिताः ॥ ११ ॥

तव अङ्ग नगर में, श्रेष्ठ, पिंगल, चण्ड, दण्ड और श्वेत आदि नाग (साँप) तथा पूर्णभद्र नामक यक्ष दीक्षित हुए ॥ ११ ॥

केन्यशैलद्विजश्रेष्ठौ तपन्तावापणे पुरे ।
स्वर्गेप्सू तौ तु बुद्धेन नीतौ निर्वाणवर्त्मनि ॥ १२ ॥

आपण नामक नगर में स्वर्ग की इच्छा से तप करने वाले केन्य और शैल नामक श्रेष्ठ ब्राह्मणों को बुद्ध ने निर्वाण के मार्ग में लगा दिया ॥ १२ ॥

सौदासेन समः क्रूरश्चाङ्गुलिमालभूसुरः।
गुह्यकानां समक्षं स ऋद्धया तेन विनामितः ॥ १३ ॥

उन भगवान् बुद्ध ने सौदास के समान क्रूर (दुष्ट) अंगुलिमाल नामक ब्राह्मण को, अपनी दिव्य शक्ति (ऋद्धि) के प्रभाव से, गुह्यकों के सामने ही विनम्र बना दिया ॥ १३ ॥

भद्रलोकस्य भद्रे स ततः कस्यापि सूनवे।
मेण्ढकाय च दान्ताय सम्पन्नाय सुखात्मने ॥ १४ ॥
पूर्णभद्रेण तुल्याय धनाढ्याय विनायकः।
उदाराय ददौ दिव्यां सम्यग्दृष्टिं महातपाः ॥ १५ ॥

तब भद्र में किसी एक भद्र पुरुष के शान्त, दान्त, उदार, समृद्ध एवं सुखी पूर्णभद्र के समान धनी मेण्ढक नामक पुत्र को महातपस्वी बुद्ध ने दिव्य सम्यग् दृष्टि प्रदान की ॥ १४, १५ ॥

ब्रह्मायुषं ब्रह्मतुल्यं ततो दीर्घायुषं पुनः।
विदेहनगरेऽजैषीच्छास्त्रार्थे वदतां वरः ॥ १६ ॥

तब फिर विदेह नगर में उन श्रेष्ठ वक्ता ने ब्रह्मा के समान दीर्घायु वाले ब्रह्मायु को शास्त्रार्थ में जीता ॥ १६ ॥

राक्षसो मर्कटो नाम वैशाल्यास्तु जलाशये।
मांसभक्षी महाक्रूरः सोऽपि बुद्धेन दीक्षितः ॥ १७ ॥

और उन्होंने वैशाली के जलाशय में रहने वाले अत्यन्त दुष्ट मांसभक्षी मर्कट नामक राक्षस को भी दीक्षित कर लिया ॥ १७ ॥

उत्तरः सत्यकः सिंहः सर्वे लिच्छविनः स्मृताः।
तेऽपि संदीक्षितास्तेन करुणापूर्णचेतसा ॥ १८ ॥

तथा करुणामय हृदय वाले उन भगवान् बुद्ध ने उत्तर, सत्यक, सिंह तथा सभी लिच्छवियों को दीक्षित कर लिया ॥ १८ ॥

भद्राख्यमार्यकर्मा स यक्षं बुद्धः सदाशयम्।
दिदीक्षे सौगते धर्मे तत्रालकावतीपुरे ॥ १९ ॥

और अलकावती नगरी में आर्यकर्मा उन बुद्ध ने अच्छे विचारों वाले भद्र नाम के यक्ष को सुगत के धर्म में दीक्षित किया ॥ १९ ॥

यक्षमाटविकं चैव कुमारं हस्तकं तथा।
पर्यटन् स महारण्ये दिदीक्षे भगवान् हितम् ॥ २० ॥

उन भगवान् बुद्ध ने घने जंगल में घूमते हुए आटविक (जंगली) यक्ष को और कुमार हस्तक को हितकारी शिक्षा दी ॥ २० ॥

नागायनं च यक्षेशं निर्वाणं समुपादिशत्।
निर्वाणदर्शिनं बुद्धं ननाम स च यक्षराट् ॥ २१ ॥

और नागायन नामक यक्षराज को उन्होंने निर्वाण का उपदेश दिया। उस यक्षराज ने भी निर्वाणदर्शी (निर्वाण को देखने वाले) उन बुद्ध को प्रणाम किया ॥ २१ ॥

पश्चादुपादिशच्छास्ता गयायां टङ्कितानृषीन्।
शूचीलोमखरौ चापि यक्षौ संक्रूरकर्मिणौ ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् उन शास्ता (जितेन्द्रिय) बुद्ध ने गया में टंकित (गुफाओं में रहने वाले) ऋषियों को तथा शूचीलोम और खर नामक दो क्रूरकर्मा यक्षों को भी धर्म का उपदेश दिया ॥ २२ ॥

भागिनेयोऽसितस्यासीद्वरः कात्यायनो द्विजः।
काश्यां दशबलेनासौ सम्यक् प्रव्राजितस्ततः ॥ २३ ॥

तब फिर काशी में उन दशबल बुद्ध ने असित के भानजे श्रेष्ठ कात्यायन नामक ब्राह्मण को पूर्ण रूप से दीक्षित किया ॥ २३ ॥

ततो दिव्यप्रभावोऽसौ गत्वा शूर्पारकं पुरम्।
स्तवकर्णीति विख्यातं श्रेष्ठिनं समुपादिशत् ॥ २४ ॥

तब दिव्य प्रभाव वाले उन गौतम ने शूर्पारक नगर में जाकर स्तवकर्णी नामक सुप्रसिद्ध सेठ को उपदेश दिया ॥ २४ ॥

योऽसौ श्रद्धातिरेकेण दिव्यमामोदपूरितम्।
विहारं चन्दनाढ्यं तन्निर्माय मुनये ददौ ॥ २५ ॥

और उस (स्तवकर्णी) ने अतिशय श्रद्धा होने के कारण एक दिव्य, आनन्द से पूर्ण, चन्दन से भरा-पुरा विहार बनाकर मुनि (गौतम) को दे दिया ॥ २५ ॥

तापसं कपिलं निन्ये महीवत्यां स बौद्धताम्।
यत्रैकोऽस्ति शिलाखण्डः पदचक्राङ्कितो मुनेः ॥ २६ ॥

और महीवती नगरी में—जहाँ कि मुनि के चरणों के चक्र से (शोभित अंकित) एक शिलाखण्ड है—उन्होंने (मुनि ने) कपिल नामक तपस्वी को बौद्धता को प्राप्त कराया ॥ २६ ॥

वरणे वारणं यक्षं मथुरायां भयानकम् ।
गर्द्भं च मुनिश्रेष्ठो दिदीक्षे दीनवत्सलः ॥ २७ ॥

वरण में वारण नामक यक्ष को और मथुरा में भयानक गर्दभ (गधे) को उन दीनदयालु श्रेष्ठ मुनि ने दीक्षित किया ॥ २७ ॥

स्थूलकोष्ठकपुर्यां स राष्ट्पालाभिधं नरम् ।
दिदीक्षे यस्य चैश्वर्यं नृपैश्वर्यसमं विदुः ॥ २८ ॥

और उन्होंने 'स्थूल-कोष्ठक' नाम की नगरी में राष्ट्रपाल नाम के व्यक्ति को, जिसका ऐश्वर्य राजाओं के ऐश्वर्य के समान था, दीक्षित किया ॥ २८ ॥

वेदज्ञस्तु विरञ्जायां ब्रह्मणा सदृशो द्विजः ।
तथा कल्माषदम्ये च भारद्वाजः समाश्रितौ ॥ २९ ॥

विरंजा नगरी में ब्रह्मा के समान वेदज्ञ ब्राह्मण ने तथा कल्माषदम्य नामक स्थान में भारद्वाज ने दीक्षा ली ॥ २९ ॥

निर्ग्रन्थानां च पुत्राणां नप्तृणां सभियस्य सः ।
तीर्थिकानां च श्रावस्त्यां नुनोद श्रौघनस्तमः ॥ ३० ॥

इसके वाद श्रावस्ती में जाकर मुनि ने निर्ग्रन्थों, नप्तृपुत्रों, सभिय तथा तीर्थिकों (पंडितों) का अज्ञान रूपी अन्धकार दूर किया ॥ ३० ॥

ततः पुष्कलसादी च याज्ञिकः कोसलाधिपः ।
जातिश्रेणीद्विजश्चापि वुद्धधर्मेण दीक्षिताः ॥ ३१ ॥

तव पुष्कल सादी याज्ञिक, कोशलराज तथा जातिश्रेणी ब्राह्मण भी बुद्ध धर्म में दीक्षित किये गये ॥ ३१ ॥

शारिकां च शुकं चैव विद्यां शेतविके वने ।
मुनिः प्रपाठयामास द्विजवच्छिक्षकोत्तमः ॥ ३२ ॥

और शेतविक वन में उत्तम शिक्षक उन मुनि ने ब्राह्मण के समान एक मैना तथा एक तोते को (दो द्विजों को) विद्या (ज्ञान) पढ़ाई ॥ ३२ ॥

जङ्गाली नागरश्चैव क्रूरकर्मा च कालकः ।
कुम्भीरश्च तथैवेते वौद्धं धर्मं प्रजग्रहुः ॥ ३३ ॥

जंगाली, नागर, क्रूरकर्मा, कालक एवं कुम्भीर—इन सब ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया ॥ ३३ ॥

मध्ये स भार्गसानां वै मुनिर्यक्षं तु भेषकम् ।
दिदीक्षे पितरौ वृद्धौ नकुलस्य तथैव च ॥ ३४ ॥

तव उन्होंने भार्गसों के बीच रहने वाले भेषक नामक यक्ष को दीक्षा दी तथा नकुल के वृद्ध माता-पिता को भी उसी प्रकार दीक्षा दी ॥ ३४ ॥

धनाढ्यो घोषलश्चान्ये कौशाम्व्यां ये महाजनाः।
कुब्जोत्तराश्च नार्योऽपि सद्धर्मे दीक्षितास्तदा ॥ ३५ ॥

और कौशाम्वी (नगरी) में जो धनाढ्य घोषल तथा अन्य महाजन (धनी) थे, तथा कुब्जा, उत्तरा आदि स्त्रियाँ थीं, उन सवको उस समय सद्धर्म में दीक्षित किया ॥ ३५ ॥

अपलापाभिधः सर्पो गान्धारे श्रीघनेन वै।
कृतो विनयसंपन्नो निर्विषश्च जितेन्द्रियः ॥ ३६ ॥

और उन गौतम ने गांधार में रहने वाले अपलाप नामक सर्प को (अपने प्रभाव से) नम्र, विषहीन और जितेन्द्रित वना दिया ॥ ३६ ॥

ततः कालोपमान् सर्पाँल्लोकान् दग्धुमलं च तान्।
दीक्षयित्वा क्रमेणासौ तेभ्यो धर्ममुपादिशत् ॥ ३७ ॥

तव फिर काल के समान संसार को जला देने में समर्थ वहुत से सर्पों को क्रमशः दीक्षा देकर उन्होंने उन्हें धर्म का उपदेश किया ॥ ३७ ॥

अन्येषां भूचराणां वै व्योमगानां च दीक्षणात्।
यशो ववर्ध बुद्धस्य समुद्रः पार्वणो यथा ॥ ३८ ॥

अन्य थलचर और नभचर प्राणियों को दीक्षा देने से बुद्ध का यश, पूर्णिमा के (दिन) समुद्र के समान बढ़ने लगा ॥ ३८ ॥

तस्योन्नतिं समालोक्य देवदत्तश्चुकोप ह।
द्वेषेण संयमं त्यक्त्वा कुकृत्यं कृतवान् बहु ॥ ३९ ॥

परन्तु बुद्ध की इस उन्नति को देखकर देवदत्त क्रुद्ध हो गया। द्वेष के कारण संयम को छोड़कर वह वहुत से कुकृत्य करने लगा ॥ ३९ ॥

सङ्घे भेदं चकारासौ संकलुषेण चेतसा।
स्नेहस्यापेक्षया तस्मै क्लेशं दातुं समुद्यतः ॥ ४० ॥

मन में द्वेष होने के कारण उसने संघ में फूट डाल दी तथा उनसे स्नेह करने के वदले, उन्हें कष्ट देने को तैयार हो गया ॥ ४० ॥

गृध्रकूटाच्छिलामेकां पातयामास मूढधीः।
लक्ष्यं मुनिमनाक्रम्य पपातान्यत्र खण्डशः ॥ ४१ ॥

उस मूर्ख बुद्धि (वाले) ने गृध्रकूट पर्वत से एक शिला मुनि पर गिराई,

पर (सुयोग से) वह मुनि पर न गिर कर अन्यत्र गिरी और टुकड़े-टुकड़े हो गई ॥ ४१ ॥

राजमार्गे तमुद्दिश्य गजस्त्यक्तोऽन्तकोपमः ।
झञ्झावात इवाधावत् प्रलयाम्भोदनिःस्वनः ॥ ४२ ॥

उस (देवदत्त) ने बुद्ध को ही लक्ष्य करके, राजपथ पर, एक यमराज के समान हाथी को छोड़ा जो आँधी के समान दौड़ रहा था तथा प्रलय के मेघ सदृश गरज रहा था ॥ ४२ ॥

हतानां तेन मर्त्यानां शवेनान्त्रेण चास्थिभिः ।
रुधिरेण च पन्थानो राजगृहस्य दुर्गमाः ॥ ४३ ॥

उस (यमस्वरूप) हाथी के दौड़ने से मारे गये लोगों के शवों, अँतड़ियों एवं हड्डियों तथा रक्त की अधिकता से सभी राजमार्ग पर (दुर्गम हो जाने के कारण) चलना कठिन था ॥ ४३ ॥

ऊरून् विदारयामास दन्ताघातेन दुर्मदः ।
अन्त्राण्यादाय हस्तेन चिक्षेप भृशमम्बरे ॥ ४४ ॥

वह (हाथी) मतवाला होकर दाँतों के आघात से जंघाओं को फाड़ रहा था तथा अपनी सूँड़ से अँतड़ियों को उठा-उठा कर आकाश में फेंक रहा था ॥४४॥

तदा तस्याभवद्रूपं गजस्य रुधिरोक्षितम् ।
प्रलयान्ते करालस्य कालस्येव भयानकम् ॥ ४५ ॥

उस समय खून में सने हुए उस हाथी का रूप, प्रलय समय के भयानक विकराल काल के समान हो गया था ॥ ४५ ॥

पूतिमांसवसालिप्तं रक्ताक्तं क्रोधमूर्च्छितम् ।
भ्रमन्तं तं विलोक्याशु पौरा भीताः प्रदुद्रवुः ॥ ४६ ॥

पूति (सड़े हुए) मांस तथा चर्बी से लिपटे हुए, रक्त में रँगे क्रोध से मतवाले होकर दौड़ने वाले उस हाथी को देखकर, शीघ्र ही डरकर नगरवासी भागने लगे ॥ ४६ ॥

कालदण्डनिभं भीमं प्रलयाग्निशिखेक्षणम् ।
बृंहन्तं परुषं वीक्ष्य पौरा हाहेति चुक्रुशुः ॥ ४७ ॥

उस हाथी को कालदण्ड के समान भयंकर, प्रलय की अग्नि की ज्वाला के समान आँखों वाले, गरजने वाले, कठोर दुष्ट रूप में देखकर, नगरवासी हाहाकार करने लगे ॥ ४७ ॥

केचित्पुराद्बहिः केचिद् गृहान्तरमुपद्रुताः।
केचित्पलायिताः स्वं च जुगुपुर्भयविह्वलाः ॥ ४८ ॥

कोई तो नगर के बाहर भागे, कोई दूसरों के घरों के भीतर घुस गये। कोई स्वयं को लेकर तेजी से भागे तथा कोई भयभीत होकर छिपने लगे ॥ ४८ ॥

बुद्धं मा क्लेशयेदित्थं विचिन्त्य हरिविक्रमाः।
त्यक्तप्राणभयाः केचिदन्वधावन् गजं प्रति ॥ ४९ ॥

सिंह के समान पराक्रम वाले कुछ लोग यह सोचकर कि कहीं यह हाथी बुद्ध को पीड़ित न करे, अपने प्राणों की भी परवाह न कर, हाथी की ओर दौड़ पड़े ॥ ४९ ॥

केचिद्धस्तिपकं प्रोचुस्ततर्जुः करिणं तथा।
अन्ये प्रलोभयामासुः केचित्प्राञ्जलि तुष्टुवुः ॥ ५० ॥

कोई महावत को पुकारने लगे, कोई हाथी को ही डराने लगे, कोई उसे लोभ देने लगे तथा कोई हाथ जोड़कर प्रसन्न करने लगे ॥ ५० ॥

सौधोपरि स्त्रियो बाहून् प्रसार्य रुरुदुर्भृशम्।
काश्चित्करैश्च चक्षूंषि रुरुधुर्भयविक्लवाः ॥ ५१ ॥

महलों के ऊपर बैठी हुई स्त्रियाँ, भुजाएँ (हाथ) उठाकर (फैलाकर) रोने लगीं। कोई-कोई भय से व्याकुल होकर हाथों से आँखें ढाँककर रोने लगीं ॥५१॥

हिंसापरो गजः क्रूरो बुद्धस्याभिमुखं द्रुतम्।
वार्यमाणोऽपि शोकार्तैर्लोकैरभिससर्प सः ॥ ५२ ॥

वह दुष्ट, हिंसा करने को तैयार हाथी, दुःख से व्याकुल लोगों के द्वारा रोका जाने पर भी, शीघ्र ही बुद्ध के सम्मुख ही दौड़कर आ गया ॥ ५२ ॥

तथापि सुगतो मौनी शान्तोऽविचलमानसः।
नाबिभेन्न च संतस्थे न चुकोप त्वगात्पुरः ॥ ५३ ॥

तो भी सुगत (बुद्ध) मौन, शान्त, अविचल और स्थिरचित्त रहे न वे डरे, न खड़े ही हुए और न क्रुद्ध ही हुए अपितु आगे चलते (बढ़ते) गये ॥ ५३ ॥

करुणा सर्वभूतेषु मैत्री यस्य च यं जिनम्।
देवा अनुययुस्तस्मै कथं द्रुह्यान्महागजः ॥ ५४ ॥

सब प्राणियों पर जिस (बुद्ध) की दया और मित्रता है तथा जिस जितेन्द्रिय बुद्ध का अनुगमन देव भी करते हैं; उसी बुद्ध के प्रति महागज (महान् हाथी या महापाप से—मतवालापन रूप से—उत्पन्न) कैसे द्रोह कर सकता है ? ॥ ५४ ॥

पलायिता गजं वीक्ष्य शिष्यास्ते दूरतोऽनुगाः ।
छायेवानन्द एकाकी चान्वगच्छत्तु केवलम् ।। ५५ ।।

उस मतवाले हाथी को देखकर, बुद्ध के वे सभी अनुचर शिष्य दूर से ही भाग गये (किन्तु) केवल एक आनन्द ही छाया के समान उनके पीछे चलते रहे ।।५५।।

धावन् स कुपितो नागो यदाभ्यर्णं समाययौ ।
मुनेर्दिव्यप्रभावेण चान्तर्बुद्ध इवाभवत् ।। ५६ ।।

दौड़ता हुआ वह क्रुद्ध हाथी जब निकट आ गया तो मुनि के दिव्य प्रभाव से अन्तर्बुद्ध (भीतर से ज्ञान के जागरण वाला) के समान हो गया ।। ५६ ।।

नामयित्वा स्वकायं स छिन्नपक्षमिवाचलम् ।
शुण्डया नतमूर्धा सन् पस्पर्श चरणं मुनेः ।। ५७ ।।

उसने अपने शरीर को झुकाकर, कटे हुए पंखों वाले पहाड़ की भाँति सूँड़ नीची करके, सिर नवाकर, मुनि (बुद्ध) के चरणों का स्पर्श किया ।। ५७ ।।

अंशुमानिव सर्वज्ञो वारिवाहनिभस्य वै ।
मस्तके गजराजस्य निदधे ललितं करम् ।। ५८ ।।

जिस प्रकार सूर्य बादलों पर अपनी किरणों के कर (हाथ) फैलाता है उसी प्रकार उन सर्वज्ञ (मुनि बुद्ध) ने उस गजराज के मस्तक पर अपना ललित कर (हाथ) रखा ।। ५८ ।।

वीक्ष्य निश्चलकर्णं तं सजलं मेघसन्निभम् ।
नतं तस्मै समर्हाय शमं धर्मं समादिशत् ।। ५९ ।।

सजल मेघ के समान, अचल कानों वाले उस हाथी को झुका हुआ देखकर, उस महान् को (उन मुनि ने) शम धर्म का उपदेश किया ।। ५९ ।।

मा हिंस्याः सर्वभूतानि निर्मन्तुं तु विशेषतः ।
हिंसया नाग न श्रेयो लभते सप्तजन्मसु ।। ६० ।।

"सभी प्राणियों की हिंसा मत करो, विशेषकर निरपराध की तो और भी नहीं । हे नाग! (हाथी) हिंसा से (आगे के) सात जन्मों में भी श्रेय (कल्याण) की प्राप्ति नहीं होती ।। ६० ।।

कामो मोहो घृणा चेति दुर्जयो हि मदत्रयम् ।
विजित्य मुनयो मुक्तास्त्वं गजेन्द्र ! तथा भव ।। ६१ ।।

काम, मोह और घृणा—ये तीन मद (मतवालेपन) जीतने में बड़े कठिन हैं । इनको जीतकर ही मुनि मुक्त होते हैं । हे गजराज ! तुम भी वैसे ही हो जाओ ।।

तमःप्रसक्तिमुत्सृज्य याहि स्वाभाविकीं गतिम् ।
कामासक्त्या पुनर्नाग भवपङ्के तु मा पत ॥ ६२ ॥

अन्धकार (अज्ञान) की आसक्ति को छोड़कर तुम स्वाभाविक गति को प्राप्त करो । हे हस्तिन् ! तुम कामासक्ति के कारण फिर से संसार रूपी कीचड़ में मत गिरना ॥ ६२ ॥"

श्रुत्वा तद्वचनं नागो निर्मदः प्रकृतिं गतः ।
आनन्दं परमं लेभे पीतामृत इवाभवत् ॥ ६३ ॥

(बुद्ध के) ऐसे वचन सुनकर वह हाथी मदहीन होकर, स्वाभाविक रूप को प्राप्त हो गया । उसने अमृत पीने वाले के समान परम (अत्यन्त) आनन्द को प्राप्त किया ॥ ६३ ॥

त्यक्तामर्षो गजस्तूर्णं ननाम मुनिपादयोः ।
ततो जयरवं होचुर्हर्षोत्फुल्लानना नराः ॥ ६४ ॥

क्रोध को छोड़कर शीघ्र ही उस हाथी ने मुनि के चरणों में प्रणाम किया । तब हर्ष से प्रसन्नमुख लोगों ने (बुद्ध का) जय-जयकार किया ॥ ६४ ॥

जगुर्मुनियशः शुभ्रं केचिदूचुर्गजार्यताम् ।
आनर्चुः सुगतं चान्ये गजराजं तथाऽपरे ॥ ६५ ॥

उन्होंने मुनि के धवल यश को गाया । कोई कोई हाथी की श्रेष्ठता का बखान करने लगे । कोई सुगत (बुद्ध) को हाथ जोड़ने लगे तो दूसरे कोई हाथी की प्रशंसा करने लगे ॥ ६५ ॥

नगराद्राजगेहाच्च समागत्य सहस्रशः ।
मुनिं सम्मानयामासुर्नार्यो वस्त्रविभूषणैः ॥ ६६ ॥

और नगर तथा राजभवनों से हजारों की संख्या में आ-आकर नारियाँ वस्त्रों एवं आभूषणों के द्वारा (प्रदान कर) मुनि का सम्मान करने लगीं ॥ ६६ ॥

गजश्चाधीतसद्विद्यश्छात्रतुल्यो नताननः ।
अन्तिके मुनिवर्यस्य तस्थौ सम्मीलितेक्षणः ॥ ६७ ॥

और हाथी भी एक अच्छी विद्या प्राप्त किये हुए विद्यार्थी के समान विनीत हो, सिर झुकाकर, नेत्र बन्द करके मुनिवर्य (बुद्ध) के निकट बैठ गया ॥ ६७ ॥

धर्मे श्रद्धा न यस्यासीत्तदा तस्याभवद् भृशम् ।
येषां च पूर्वमल्पासीत्तेषां भूरि दृढाऽभवत् ॥ ६८ ॥

जिन लोगों को पहिले धर्म में श्रद्धा नहीं थी, उन्हें भी अब श्रद्धा हो गई। जिसे पहिले थोड़ी भी श्रद्धा थी उसकी श्रद्धा बहुत दृढ़ हो गई ॥ ६८ ॥

सौधादजातशत्रुश्च विलोक्य गजमानतम् ।
विस्मयं परमं लेभे बुद्धे श्रद्धां चकार च ॥ ६९ ॥

अजातशत्रु ने भी राजभवन से जब मतवाले हाथी को भी (बुद्ध के समक्ष) झुकते हुए देखा तो उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ और उसे भी बुद्ध में श्रद्धा हो गई ॥ ६९ ॥

धर्मार्थौ हि विवर्धेते कलौ याते कृतागमे ।
ववृधाते यशोधर्मौ तथा शौद्धोदनेः शुभौ ॥ ७० ॥

जिस प्रकार कलियुग के जाने और और सतयुग के आने पर, धर्म और अर्थ दोनों की वृद्धि होती है उसी प्रकार बुद्ध के शुभ यश और धर्म दोनों वृद्धि को प्राप्त हुए ॥ ७० ॥

कृत्वा मुनौ दुष्टतयातिपापं
विनिन्दितं कर्म च देवदत्तः ।
राजा प्रजाभिर्मुनिभिश्च विप्रै-
र्विगर्हितोऽधो भुवने पपात ॥ ७१ ॥

इति श्रीरामचन्द्रदासकृते उत्तरबुद्धचरितमहाकाव्ये
"प्रव्रज्यास्रोतः" नाम एकविंशः सर्गः ॥

और देवदत्त अपनी दुष्टता के कारण मुनि के सम्बन्ध में अत्यन्त पाप और अतिनिन्दित कर्म करके, राजा, प्रजा, मुनि और विप्रों के द्वारा अत्यन्त निन्दित अधोलोक में (नीचे के लोकों में) जाकर गिरा ॥ ७१ ॥

यह श्रीरामचन्द्रदासकृत उत्तरबुद्धचरित महाकाव्य में "प्रव्रज्या स्रोत" नामक इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ द्वाविंशः सर्गः

आम्रपाल्या उपवने

आम्रपाली के उपवन में

कालक्रमेण संसारे दयां कृत्वा तथागतः ।
संस्थाप्य चात्मनो धर्मं निर्वाणे मतिमादधे ॥ १ ॥

तथागत (बुद्ध) ने समय बीतने पर संसार पर दया करते हुए, अपने धर्म की स्थापना करके निर्वाण की ओर अपनी बुद्धि (ध्यान) को लगाया ॥ १ ॥

ततो राजगृहात्काले पाटलिपुत्रमाययौ ।
तन्नाम्ना तत्र विख्याते चैत्ये तस्थौ स कालवित् ॥ २ ॥

कुछ समय बाद वे राजगृह से पाटलिपुत्र को आये । वहाँ उसके नाम से प्रसिद्ध (पाटलिपुत्र) चैत्य में वे कालज्ञ ठहरे ॥ २ ॥

मगधाधिपतेर्मन्त्री वर्षकारो दृढं तथा ।
शरण्यं निर्ममौ दुर्गं तत्र लिच्छविनां कृते ॥ ३ ॥

मगधराज के मन्त्री वर्षकार ने वहाँ लिच्छवियों (से शान्ति बनाये रखने) के लिये एक दृढ़ शरण पाने योग्य किला बनवाया था ॥ ३ ॥

तस्मिन्देवान् धनं स्वर्गाद् ददर्शानयतो जिनः ।
लोके मुख्यपुरं ह्येतद्भवितेति जगाद सः ॥ ४ ॥

उस किले में स्वर्ग से धन लाते हुए देवों को जिन (बुद्ध) ने देखा । यह देखकर उन्होंने कहा—"विश्व में यह एक सुप्रसिद्ध एवं प्रमुख नगर होगा ॥ ४ ॥"

विधिना पूजितो बुद्धो वर्षकारेण कर्मवित् ।
गङ्गायाः सिन्धुभार्यायास्ततः कूलं समाययौ ॥ ५ ॥

वर्षकार ने कर्म को जानने वाले, उन बुद्ध की विधिवत् पूजा की । तब वे बुद्ध सिन्धुपत्नी गंगा के किनारे आये ॥ ५ ॥

द्वारेण निर्ययौ येन भगवाँस्तस्य नाम वै ।
गौतमद्वारमित्येतद्वर्षकारेण संज्ञितम् ॥ ६ ॥

भगवान बुद्ध जिस द्वार से होकर निकले, वर्षकार ने उस द्वार का नाम 'गौतम द्वार' रखा ॥ ६ ॥

भवाब्धेः पारदृश्वाऽसौ तीरमासाद्य योगवित् ।
तरतो नौकुलैश्चित्रैर्जनान् दृष्ट्वा व्यचिन्तयत् ॥ ७ ॥

संसार रूपी सागर के भी उस (दूसरे) पार तक देखने वाले, योग के जानने वाले, वे बुद्ध (गंगा के) किनारे पर आकर, अनेक प्रकार की चित्र-विचित्र नावों द्वारा लोगों को पार जाते हुए देखकर सोचने लगे—॥ ७ ॥

जाह्नवीतरणं न स्यादुचितं नौकया मम ।
अतो योगबलेनैव गन्तव्यं पारमञ्जसा ॥ ८ ॥

"मैं भी (भौतिक) नाव से गंगा को पार करूँ—यह उचित नहीं है। अतः मुझे योगबल से ही (शीघ्र ही) उस पार जाना चाहिये" ॥ ८ ॥

ततोऽसौ पश्यतां दृष्टेरन्तर्धाय सशिष्यकः ।
डिड्ये योगबलेनैव पारं तु पवनात्ययः ॥ ९ ॥

तब वे देखने वालों की दृष्टि से ओझल होकर, अपने सब शिष्यों के साथ, योगबल से ही, वायु से भी अधिक वेग के साथ उस (दूसरे) पार आकाश मार्ग से चले गये ॥ ९ ॥

दुःखाब्धिर्ज्ञाननावैव तार्य एवं विदन्वशी ।
विना भौतिककोलेन गाङ्गं पारं ययौ मुनिः ॥ १० ॥

दुःख का सागर, ज्ञान की नाव से ही पार किया जाता है—यह जानने वाले उन जितेन्द्रिय मुनि (बुद्ध) ने सांसारिक (लकड़ी की) नाव के बिना ही गंगा को पार किया ॥ १० ॥

तदा तं मुनिमालोक्य संतीर्णाश्च तितीर्षवः ।
तरिष्यन्तश्च सर्वे ते विस्मयं परमं ययुः ॥ ११ ॥

उस समय उन मुनि को इस प्रकार पार गया हुआ देखकर, वहाँ जो लोग गंगा को पार करने वाले थे, जो लोग पार कर रहे थे, तथा जो पार कर चुके थे, वे सभी लोग आश्चर्य में पड़ गये ॥ ११ ॥

कच्छाद्यस्मात्तु सर्वज्ञो गङ्गापारमगाद्वशी ।
तस्य गौतमतीर्थेति नाम लोकेषु विश्रुतम् ॥ १२ ॥

वे वशी, सर्वज्ञ भगवान बुद्ध जिस घाट से गंगा के दूसरे पार गये, उस स्थान का नाम विश्व में 'गौतम तीर्थ' प्रसिद्ध हुआ ॥ १२ ॥

कुटीग्रामं ततो गत्वा गङ्गातीरात्तथागतः ।
उपदिश्य शमं धर्मं नादीग्रामं ततो ययौ ।। १३ ।।

तब तथागत (गौतम) गंगा तीर से कुटी ग्राम को गये । वहाँ उन्होंने शम धर्म का उपदेश किया । फिर वे नादीग्राम को गये ।। १३ ।।

मम्रुस्तत्र जनास्तावद्बहवस्तेषु कः कथम् ।
कस्मिँल्लोके च किं भूत्वा जातः सर्वं जगाद सः ।। १४ ।।

वहाँ बहुत से लोग मर गये थे—उनमें से कौन, कहाँ, किस लोक में, क्या बनकर उत्पन्न हुआ—यह सब बुद्ध ने उनको बताया ।। १४ ।।

तत्रोषित्वा निशामेकां वैशालीं नगरीं ययौ ।
उद्याने चाम्रपाल्याः स तस्थौ दीनहिते रतः ।। १५ ।।

वहाँ एक रात रहकर वे वैशाली नगरी को गये । वहाँ वे आम्रपाली के उपवन में दीनों (गरीबों) का हित करते हुए रहने लगे ।। १५ ।।

समागतं मुनिं श्रुत्वा प्रसन्ना सा वराङ्गना ।
आम्रपाली रथारूढा प्रतस्थे श्रीघनान्तिकम् ।। १६ ।।

मुनि के आगमन का समाचार सुनकर, प्रसन्न होकर वह सुन्दरी आम्रपाली रथ पर बैठकर बुद्ध के पास गई ।। १६ ।।

पूजागतकुलस्त्रीव सौम्यवेषा सितांशुका ।
त्यक्ताङ्गरागभूषाङ्गी तदासीत्प्रश्रयान्विता ।। १७ ।।

पूजा के लिये आई हुई कुल-वधू के समान, सौम्य (सादे) वेष में, श्वेत वसन धारण किये हुए, अलक्तक, अंजन, अंगराग-आभूषण आदि को त्यागकर, वह विनम्र होकर आई थी ।। १७ ।।

सौन्दर्यस्याभिमानेन यौवनस्य मदेन च ।
सदा स लिच्छवीयानां चित्तवित्तानि चाहरत् ।। १८ ।।

वह सदा सुन्दरता के अभिमान और यौवन के मतवालेपन से लिच्छवियों के मन और धन का हरण किया करती थी ।। १८ ।।

चार्वङ्गी वनदेवीव रूपयौवनगर्विता ।
अवतीर्य रथात्तूर्णं शान्तोद्यानं विवेश सा ।। १९ ।।

अपने रूप और यौवन के गर्व में डूबी हुई, सुन्दर अंगों वाली वनदेवी के समान, वह रथ से उतरकर, शीघ्र ही उस शान्त बगीचे (उपवन) में घुस गई (चली गई) ।। १९ ।।

तामालोक्य चलापाङ्गीं कुलयोषिद्विगर्हिताम् ।
मेघगम्भीरया वाचा शिष्यानाज्ञप्तवानृषिः ॥ २० ॥

उस चंचल अंगों (नेत्रों) वाली तथा कुलवधुओं द्वारा निन्दित (आम्रपाली) को देखकर, ऋषि (बुद्ध) ने मेघ के समान गम्भीर वाणी (स्वर) में (अपने) शिष्यों को आदेश दिया ॥ २० ॥

आम्रपाली समायाति दुर्बलानां मनोव्यथा ।
बोधौषधधृतात्मानो स्थिरा ज्ञाने भवन्तु भोः ॥ २१ ॥

यह दुर्बलों के मन को पीड़ित करने वाली सुन्दरी आम्रपाली आ रही है अतः तुम सब बोध रूपी औषधि से स्वयं को संयत करके ज्ञान में स्थिर हो जाओ ॥ २१ ॥

ज्ञानविज्ञानशून्यानां योषित्सन्निध्यपेक्षया ।
सशस्त्ररिपुसर्पाणां सन्निधानं वरं स्मृतम् ॥ २२ ॥

ज्ञान और विज्ञान से रहित पुरुषों के लिये, स्त्री के निकट रहने की अपेक्षा शस्त्रधारी शत्रु अथवा साँप के पास रहना अधिक अच्छा है ॥ २२ ॥

शयाना चोपविष्टा वा 'स्थता वा गमनातुरा ।
चित्रितापि बलाह्नारी हरत्येव नृणां मनः ॥ २३ ॥

सोती हो चाहे बैठी हो, खड़ी हो अथवा जाती हो या चित्रखचित ही क्यों न हो; स्त्री हर दशा में पुरुषों के हृदय (मन) का हरण कर ही लेती है ॥ २३ ॥

विपद्ग्रस्ता रुदन्ती च दीना विक्षिप्तमूर्धजा ।
दावाग्निपतितायोषित्तथाप्याकर्षिकैव सा ॥ २४ ॥

आपत्ति में पड़ी हो, चाहे रो रही हो, चाहे दीन, हीन या बाल बिखराये हो अथवा भयानक अग्नि में जल रही हो; तो भी वह आकर्षक ही होती है ॥ २४ ॥

कृत्रिमैर्मण्डनैर्योषिद् दोषमाच्छाद्य चान्तरम् ।
आहार्यैश्च गुणैर्मूढान् मोहे क्षिप्त्वा हिनस्ति तान् ॥ २५ ॥

स्त्री, बनावटी वेष-भूषा तथा बाहरी शोभा से, अपने भीतरी दोषों को छिपा लेती है और ऊपरी दिखावटी गुणों से ही मूर्खों को मोह (भ्रम) में डालकर, उनको नष्ट कर देती है ॥ २५ ॥

दुःखानात्मस्वरूपाश्चापूताऽनित्या हि योषितः ।
इति प्रपश्यतां ज्ञानं नः ताभिर्ह्रियते मनः ॥ २६ ॥

स्त्रियाँ दुःखमय, अनात्मस्वरूप, अपवित्र एवं अनित्य होती हैं—इस ज्ञान को समझने वालों के मन का हरण उनके (स्त्रियों के) द्वारा नहीं किया जा सकता है ॥ २६ ॥

येषां परिचितं चित्तं भोगोल्बणविषेण वै।
न च तत्पुनरभ्येति भोगं योगविनाशनम् ॥ २७ ॥

जिन लोगों का मन, भोगों के इस प्रत्यक्ष विष से परिचित है, उनको—योग का नाश करने वाले भोग—मोह में नहीं डाल सकते हैं ॥ २७ ॥

अतः प्रज्ञाशरं धृत्वा वीर्यचापं तथा करे।
स्मृतिवर्म च संनह्य भोगगर्भो विचार्यताम् ॥ २८ ॥

अतः प्रज्ञारूपी तीर और वीर्य (शक्ति) रूपी धनुष हाथ में धारण करके तथा स्मृतिरूपी कवच पहिन कर, इस भोगरूपी गर्भ पर पूरा-पूरा विचार करो ॥ २८ ॥

चञ्चलेन च चित्तेन लोलापाङ्गं स्त्रिया मुखम्।
पश्यतस्तप्तशल्येन वरं स्यात्स्वाक्षिदाहनम् ॥ २९ ॥

चंचल चित्त से, चंचल नेत्रों वाली स्त्रियों के मुख को देखने वालों को यह अधिक अच्छा है कि वे तपे हुए सूजों से अपनी आँखों को जला डालें ॥ २९ ॥

विषयाँश्चिन्तयन् मर्त्यस्त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
नरके पशुयोनौ वा ध्रुवं यात्यवशोऽपि सः ॥ ३० ॥

विषयों का चिन्तन करने वाला, अन्त में जब शरीर त्यागता है, तो निश्चय ही वह विवश होकर नरक अथवा पशु योनि में जाता है ॥ ३० ॥

तस्मादिदं भयं ज्ञात्वा बाह्यरूपेषु मा पत।
शुभमान्तरिकं रूपं यः पश्यति स पश्यति ॥ ३१ ॥

इसलिये इस भय को जानकर बाहरी रूप पर ही नहीं गिर पड़ना चाहिए। जो शुद्ध और शुभ भीतरी रूप को देखता है, वही ठीक देखने वाला है ॥ ३१ ॥

विषयान्नेन्द्रियाण्येव विषया नेन्द्रियाणि च।
बध्नन्ति यस्तु विषयान् वाञ्छत्येव स सज्यते ॥ ३२ ॥

न तो निश्चय ही विषय इन्द्रियों को बाँधते हैं और न इन्द्रियाँ ही विषयों को बाँधती हैं (अर्थात् न विषयों के वश में इन्द्रियाँ होती हैं और न इन्द्रियों

के वश में विषय होते हैं।) जो (व्यक्ति) विषयों की कामना करता है, वही उससे बँध जाता है ॥ ३२ ॥

परस्परं प्रणद्धानि विषयाश्चेन्द्रियाणि च।
यथा वृषभयुग्मं हि त्वेकस्यां धुरि संयुतम् ॥ ३३ ॥

विषय और इन्द्रियाँ, आपस में एक दूसरे से बँधे हुए हैं; जिस प्रकार दो बैल एक ही जुए में लगे रहते हैं ॥ ३३ ॥

चक्षुः पश्यति रूपाणि चित्तं ध्यायति वै ततः।
ध्यानात्संजायते कामस्ततो निष्कामतापि च ॥ ३४ ॥

आँख रूप को देखती है और तब मन ध्यान करता है। इसी ध्यान से कामना की उत्पत्ति होती है तथा निष्कामता की भी उत्पत्ति होती है ॥ ३४ ॥

भोगानामसमीक्ष्यैव सेवनं दुःखकारणम्।
नराणां विषयासक्तिर्निदानं विपदां ध्रुवम् ॥ ३५ ॥

विना सोचे-समझे भोगों में डूबे रहने से ही सब दुःख होते हैं। निश्चय ही विषयों में आसक्ति, मनुष्यों की विपत्तियों का मूल कारण है ॥ ३५ ॥

अतः स्मृतिं न विस्मृत्य विचिन्वन्तो निजं हितम्।
सावधाना भवन्तो हि भावयन्तु स्वरूपताम् ॥ ३६ ॥

इसलिये (तुम लोग) अपनी स्मृति को न खोना तथा अपने हित का ध्यान रखना। तुम सब सावधान होकर अपने स्वरूप का ध्यान रखना" ॥ ३६ ॥

एवं कथयतस्तस्य शिष्याँश्चारूपपारगान्।
साञ्जलिः पुरतः प्रागादाम्रपाली वराङ्गना ॥ ३७ ॥

रूप के तत्त्वज्ञान के उस पार न पहुँचे हुए शिष्यों को इस प्रकार उपदेश देने वाले उन (बुद्ध) के सम्मुख, हाथ जोड़े हुई सुन्दरी आम्रपाली आ खड़ी हुई ॥ ३७ ॥

वृक्षच्छायाश्रितं वीक्ष्य मुनिं मुकुलितेक्षणम्।
वनं तेनोपभुक्तं च ज्ञात्वा मुदमवाप सा ॥ ३८ ॥

वृक्ष की छाया में, नेत्र बन्द करके बैठे हुए मुनि को देखकर तथा उनके द्वारा बगीचे का उपभोग किये जाने से वह बहुत प्रसन्न हुई ॥ ३८ ॥

स्वभावचपले नेत्रे साधयित्वा प्रयत्नतः।
श्रद्धयावनता शान्ता सर्वज्ञं प्रणनाम सा ॥ ३९ ॥

उसने, स्वभाव से ही चंचल अपने नेत्रों को, प्रयत्न करके सम्हाला (सँभाला) और श्रद्धा से विनीत तथा शान्त होकर उन सर्वज्ञ (बुद्ध) को प्रणाम किया ।। ३९ ।।

लब्धादेशोपविष्टां तां बद्धाञ्जलिपुटां मुनिः ।
उवाच सूनृतैर्धर्म्यैः स तद्बोधक्षमैः पदैः ।। ४० ।।

मुनि का आदेश पाकर वह बैठ गई । उसने दोनों हाथ जोड़ लिये । तब मुनि ने उसके समझने योग्य, अच्छे एवं धर्मयुक्त शब्दों में उससे कहा—।। ४० ।।

पवित्र आशयस्तेऽत्र विशुद्धं चापि मानसम् ।
तथापि धर्मजिज्ञासा तरुणीनां सुदुर्लभा ।। ४१ ।।

यहाँ तुम्हारा आशय पवित्र है; तुम्हारा मन भी पूर्णतः शुद्ध है । फिर भी युवती स्त्रियों में धर्म की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) बहुत कठिनाई से होती है ।। ४१ ।।

विपन्नयोषितां धर्मे रोगिणां वा यतात्मनाम् ।
रुचिर्बुद्धिमतां वापि जायते नात्र संशयः ।। ४२ ।।

आपत्तिग्रस्त स्त्रियों की, रोगियों की, संयमियों की तथा बुद्धिमान लोगों की रुचि धर्म में अवश्य होती है, इसमें सन्देह नहीं ।। ४२ ।।

विषयैकरसे लोके स्वभावाच्चपलेन्द्रियाः ।
धर्मभावं तरुण्यश्चेत्पुष्णन्तीति विलक्षणम् ।। ४३ ।।

स्वभाव से ही चंचल इन्द्रियों वाली युवती स्त्रियाँ, यदि विषय भोग से भरे-पूरे इस संसार में धार्मिक कार्यों का भी पोषण करती हैं, तो यह आश्चर्य की बात है ।। ४३ ।।

इदमेव सदर्थं ते यद्धर्माभिमुखं मनः ।
अनित्ये जीवलोके हि धर्म एव परं धनम् ।। ४४ ।।

यही तुम्हारा श्रेष्ठ धन है कि तुम्हारा मन धर्म की ओर लगा है; क्योंकि इस अनित्य (अस्थायी) जीवलोक (संसार) में धर्म ही सर्वोत्तम धन है ।। ४४ ।।

आयुस्तु यौवनं हन्ति तथा मृत्युश्च जीवनम् ।
रोगः शरीरमाहन्ति धर्महन्ता न विद्यते ।। ४५ ।।

आयु बीतने पर यौवन नष्ट हो जाता है, मृत्यु आने पर जीवन नष्ट हो जाता है । रोग, शरीर का नाश करता है पर धर्म का नाश कोई नहीं कर सकता ।। ४५ ।।

अप्रियस्य च संयोगो वियोगोऽपि प्रियस्य च।
ध्रुवं सुखानुगानां हि धर्ममार्गस्तु निश्चलः ॥ ४६ ॥

चूँकि सुख के पीछे दौड़ने वालों को अवश्य ही कभी न कभी अप्रिय (वस्तु) का संयोग एवं प्रिय (वस्तु) का वियोग होता ही है; अतः केवल धर्म का मार्ग ही अचल-अटल है ॥ ४६ ॥

पराधीने परं दुःखं स्वाधीने च महत्सुखम्।
मनुवंशोद्भवा नार्यः सर्वा एव पराश्रिताः ॥ ४७ ॥

पराधीनता में बहुत दुःख है एवं स्वाधीनता में बड़ा सुख है। मनुष्य मात्र में उत्पन्न स्त्रियाँ—सब की सब पराधीन ही हैं ॥ ४७ ॥

पराश्रयाच्च नारीणां दुःखं हि प्रसवात्तथा।
उचितं त्वं तु सिद्धान्तमाम्रपालि ! समाप्नुहि ॥ ४८ ॥

स्त्रियों को पराधीन रहने से और प्रसव से बहुत दुःख होता है। अतः आम्रपाली ! तुम्हें किसी उचित निष्कर्ष पर पहुँचना चाहिये ॥ ४८ ॥

तरुणी त्वपि सा बुद्ध्या गाम्भीर्येणाशयेन च।
वृद्धेव मुनिवर्यस्य मुदा शुश्राव भाषितम् ॥ ४९ ॥

यद्यपि वह (आम्रपाली) तरुणी थी; परन्तु बुद्धि, गम्भीरता एवं आशय में वृद्धा के समान उसने मुनिवर (बुद्ध) के शब्दों को प्रसन्न होकर सुना ॥ ४९ ॥

श्रुत्वा धर्म्यं मुनेर्वाक्यं जहौ कामं मनोगतम्।
स्त्रीभावं तुच्छमाज्ञाय स्ववृत्तौ त्वकरोद्घृणाम् ॥ ५० ॥

मुनि के धर्मयुक्त वचनों को सुनकर, उसने अपने मन में बसी हुई सभी कामनाओं (वासनाओं) को त्याग दिया। स्त्री होने की भावना को तुच्छ समझती हुई वह अपनी वृत्ति (जीविका के लिए वेश्यावृत्ति) के प्रति घृणा से भर उठी ॥ ५० ॥

सपुष्पा सहकारस्य लतेव मुनिपादयोः।
प्रणिपत्य समुत्तस्थौ धर्मभावान्विता हि सा ॥ ५१ ॥

आम की फूली हुई मंजरी के समान वह मुनि के चरणों में गिर पड़ी और तब वह धर्म की भावना में डूबी हुई फिर से उठ खड़ी हुई ॥ ५१ ॥

तीव्रजिज्ञासया नारी प्रेरिता सा भृशं तदा।
बद्धाञ्जलिपुटा बुद्धमुवाच मधुरस्वना ॥ ५२ ॥

तब वह नारी (स्त्री) अत्यन्त तेज जिज्ञासा होने के कारण, उससे प्रेरित होकर, दोनों हाथ जोड़कर, मधुर वाणी में भगवान बुद्ध से बोली—॥ ५२ ॥

लब्धलक्ष्यो हि देव त्वं संतीर्णभववारिधिः ।
धर्मलाभाय मे साधो ! मद्भिक्षां सफलां कुरु ॥ ५३ ॥

"हे देव ! आपने लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है, भवसागर पार कर लिया है । हे साधो ! मेरे धर्म लाभ के लिए मेरी भिक्षा सफल करें ॥ ५३ ॥

लोकमन्नाश्रितं जानँस्तस्या भक्तिं च शोभनाम् ।
मौनेन मुनिना स्वस्य स्वीकृतिः प्रददे मुदा ॥ ५४ ॥

मुनि ने संसार को अन्न का आश्रित जानकर और उसकी अटल भक्ति देखकर प्रसन्नतापूर्वक मौन भाव से ही अपनी स्वीकृति दे दी ॥ ५४ ॥

वीजं विनिक्षिप्य यथा सुकाले
क्षेत्रे कृती तुष्यति भूमिधारी ।
तथाम्रपालीं विधिनोपदिश्य
तुतोष तस्यां स च कालवेत्ता ॥ ५५ ॥

इति श्री रामचन्द्रदासकृते उत्तरबुद्धचरितमहाकाव्ये
"आम्रपाल्या उपवने" नाम द्वाविंशः सर्गः

जैसे, कुशल भूमिधारी (कृषक) सुन्दर समय में (समय पर) खेत में वीज वोकर सन्तुष्ट होता है; उसी तरह कालवेत्ता वे मुनि आम्रपाली को विधिवत् उपदेश करके उसके ऊपर सन्तुष्ट हुए ॥ ५५ ॥

यह श्रीरामचन्द्रदासकृत उत्तरबुद्धचरित महाकाव्य में "आम्रपाली के उपवन में" नामक बाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ त्रयोविंशः सर्गः

आयुर्निर्णयः

आयु निर्णय

अथ नत्वा मुनिं प्रागाद् गृहं सा विदिताशया ।
लिच्छविनो जिनं द्रष्टुं श्रुतोदन्ताः समुत्सुकाः ॥ १ ॥

तब वह अम्रपाली, मुनि के अभिप्राय को जानकर, उन्हें प्रणाम करके अपने घर गई । लिच्छवि (जाति विशेष) समाचार सुनकर मुनि को देखने के लिये उत्सुक हुए ॥ १ ॥

केषांचिदश्वमातङ्गाः श्वेता हारादयस्तथा ।
नीलाः पीताश्च केषाञ्चिच्छत्रध्वजरथादयः ॥ २ ॥

किन्हीं के हाथी, घोड़े, हार, वस्त्रादि सफेद थे तथा किन्हीं के छत्र, ध्वजा, रथ आदि नीले एवं किन्हीं के पीले थे ॥ २ ॥

माणिक्यैर्मौक्तिकैश्चित्रैर्महार्हैर्भूषणैर्वृताः ।
मनोऽनुकूलवासांसि वसाना निर्ययुर्गृहात् ॥ ३ ॥

बहुमूल्य माणिक्य एवं मौक्तिक आदि चित्र-विचित्र भूषणों से युक्त तथा अपने-अपने मन के अनुकूल वस्त्र धारण करके घर से निकल पड़े ॥ ३ ॥

व्यूढोरस्का वृषस्कन्धाः कम्बुग्रीवाः शुभाननाः ।
प्रलम्बभुजदण्डास्ते दिवि देवा इवावभुः ॥ ४ ॥

चौड़ी छाती, वृषभ के समान कन्धा, शंख के समान ग्रीवा, मनोहर मुख, जानु पर्यन्त लटकने वाली लम्बी भुजा वाले वे सब स्वर्ग में देवता की तरह शोभा पा रहे थे ॥ ४ ॥

यदा चारोहितं वाहाञ्छनैरंगानि विक्षिपुः ।
तदा ते विद्युता जुष्टाः सान्ध्यमेघा इवाद्युतन् ॥ ५ ॥

जब वे वाहनों से उतरने के लिये शरीर को हिलाये तब, जिसमें विद्युत चमक रही है ऐसी सन्ध्याकालीन मेघ की तरह, शोभा पा रहे थे ॥ ५ ॥

मुनिं नेमुश्चलोष्णीषैः शिरोभिर्भूमिसंस्पृशैः ।
धमलोभाच्च ते तस्थुरप्यभिमानशालिनः ॥ ६ ॥

वे चञ्चल पगड़ी वाले सिरों से पृथ्वी को स्पर्श करते हुए, मुनि को प्रणाम किये । यद्यपि वे अभिमानी (राज्याभिमानी) थे । तथापि धर्म के लोभ से वहाँ नीचे बैठ गये ॥ ६ ॥

बुद्धान्तिके वभौ स्वच्छं चित्रं लिच्छविमण्डलम् ।
अनभ्रस्य रवेरारादिन्द्रायुधमिवामलम् ॥ ७ ॥

बुद्ध के सम्मुख बैठा हुआ, निर्मल रंग-विरंग लिच्छवियों का मण्डल, मेघ रहित सूर्य के पास विशुद्ध इन्द्रधनुष की तरह, सुशोभित हुआ ॥ ७ ॥

ततः सिंहाङ्किते रम्य आसने स्वर्णनिर्मिते ।
उपाविशच्च सिंहोऽन्ये निषेदुर्धरणीतले ॥ ८ ॥

तव सिंह (लिच्छवियों का राजा) स्वर्ण निर्मित सिंहाकार मनोहर सिंहासन पर बैठा । तथा अन्य सव भूमि पर ही बैठे ॥ ८ ॥

तदा स भगवान् बुद्धो देशकालविदां वरः ।
धर्म्यं यशस्यमायुष्यं जगाद सूनृतं वचः ॥ ९ ॥

तव देश काल के वेत्ताओं में श्रेष्ठ वे भगवान बुद्ध धर्म, यश एवं आयु बढ़ाने वाला मनोहर वचन बोले ॥ ९ ॥

राजन् धर्मे तवेयं या भक्तिर्जाता समुज्ज्वला ।
मूल्ये राज्याच्च रूपाच्च बलाच्चात्यधिका हि सा ॥ १० ॥

हे राजन् ! धर्म में यह जो तुम्हारी उज्ज्वल भक्ति (श्रद्धा) हुई है, वह राज्य, रूप एवं बल से भी अधिक कीमती (मूल्यवान) है ॥ १० ॥

न तथा द्योतते भव्यं रूपमाभरणानि ते ।
न महार्घाणि वस्त्राणि शीलं संशोभते यथा ॥ ११ ॥

आपका यह भव्य रूप एवं भूषण तथा वहुमूल्य वस्त्र उतनी शोभा नहीं देते जितना कि यह आपका शील (सात्त्विक स्वभाव) ॥ ११ ॥

कृतार्था भाग्यवन्तश्च वृज्जिया इति मे मतिः ।
सत्यान्वेषी च धर्मज्ञो भवानेषामधीश्वरः ॥ १२ ॥

ये वृजियाँ (देश एवं जाति विशेष की प्रजा) कृतार्थ एवं भाग्यवान हैं—ऐसा मैं समझता हूँ । सत्य की खोज करने वाले, धर्मज्ञ आप जिनके अधीश्वर हैं ॥ १२ ॥

धर्मात्मा च जितक्रोधः सत्यसन्धो दृढव्रतः ।
राजा भुवि प्रजानां वै ह्यपुण्यानां सुदुर्लभः ॥ १३ ॥

धर्मात्मा, क्रोधरहित, सत्यप्रतिज्ञ, दृढव्रती राजा इस लोक में पुण्य-रहित प्रजाओं के लिये अत्यन्त दुर्लभ होता है ॥ १३ ॥

उपर्येतस्य देशस्य धर्मस्यास्ति महाकृपा ।
ज्ञानवान् धार्मिको यस्य त्वद्विधोऽस्ति सुशासकः ॥ १४ ॥

इस देश के ऊपर धर्म की बड़ी भारी कृपा है जिसका तुम जैसा ज्ञानी और धर्मात्मा शासक है ॥ १४ ॥

नदीं तितीर्षवो गावोऽनुगच्छन्ति गवां पतिम् ।
भूपैः सुरक्षिते देशे निवसन्ति सुखं प्रजाः ॥ १५ ॥

नदी तैरने वाली गायें गोपति (वृषभ) का अनुसरण करती हैं । राजा से सुरक्षित देश में प्रजा सुख से निवास करती है ॥ १५ ॥

सदा त ईदृशं शीलं रक्षणीयं प्रयत्नतः ।
कामेन कमनीयं हि यशो हेयं न कर्हिचित् ॥ १६ ॥

इस प्रकार के शील की प्रयत्नपूर्वक तुम्हें सदैव रक्षा करनी चाहिये । काम से भी कमनीय यश को कभी भी नहीं त्यागना चाहिये ॥ १६ ॥

शान्तिर्यशश्च विश्वासो मोदोऽथ पारलौकिकः ।
शीलवृक्षस्य पक्वानि फलान्येतानि मानद ! ॥ १७ ॥

हे मानद ! शान्ति, यश, विश्वास तथा पारलौकिक आनन्द, ये सब शीलरूपी वृक्ष के पके फल हैं ॥ १७ ॥

चराचरस्य विश्वस्य यथाधारो वसुन्धरा ।
निखिलानां गुणानां च तथा शीलं शुभाश्रयः ॥ १८ ॥

वसुन्धरा (पृथ्वी) चराचर विश्व का आधार है । इसी तरह शील सम्पूर्ण गुणों का शुभ आश्रय है ॥ १८ ॥

विना पक्षैर्न डीयन्ते विना नावा न तार्यते ।
विना शीलेन निर्वाणो लभ्यते न कदाचन ॥ १९ ॥

विना पंख के उड़ा नहीं जाता । विना नौका के नदी पार नहीं जाया जाता । इसी तरह विना शील के कभी मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता है ॥ १९ ॥

धनिनो रूपिणो वापि विना शीलेन मानवाः ।
फलपुष्पयुताश्चापि कण्टकाढ्या द्रुमा इव ॥ २० ॥

धनी एवं रूपवान मनुष्य भी शील के बिना, फल-पुष्प से युक्त कटीले वृक्ष की तरह होते हैं ॥ २० ॥

अपि स्याद्भूषणैर्वस्त्रैर्भूषितो हर्म्यसंस्थितः ।
शीलं चेच्छोभनं यस्य महर्षिप्रतिमो हि एव सः॥ २१ ॥

चाहे भूषण-वस्त्र से भूषित एवं महल में रहता हो, यदि उसका शील सुन्दर है; तो वह साक्षात् महर्षि है ॥ २१ ॥

वल्कलैश्च जटाजूटैर्मण्डितोऽप्युटजस्थितः ।
मुनिः शीलविहीनश्चेन्मिथ्याचारी स उच्यते ॥ २२ ॥

चाहे वल्कल धारण किये जटाजूट से मण्डित एवं कुटी में रहता हो; किन्तु शीलविहीन है तो वह मुनि मिथ्याचारी कहा जाता है ॥ २२ ॥

त्रिकालतीर्थसंस्नातस्त्रिकालहुतपावकः ।
तपस्वी शीलहीनश्चेदकिञ्चित्कर एव सः ॥ २३ ॥

यदि तपस्वी है, त्रिकाल तीर्थ-स्नान करता है, त्रिकाल हवन करता है किन्तु शीलविहीन है तो वह अकिंचित् (व्यर्थ का) परिश्रमी है ॥ २३ ॥

भृगुपाते जले वापि वह्नौ वा पतितुं क्षमः ।
शक्तिमानप्यशीलश्चेदकिञ्चित्कर एव सः ॥ २४ ॥

(चाहे वह) भृगुपात में (ऊपर से कूदना), जल में, अग्नि में भी कूदने में समर्थ हो, बड़ा शक्तिमान हो, किन्तु शीलविहीन हो तो वह अकिंचित् ही है ॥ २४ ॥

जलाशी पवनाशी वा स्वल्पाशी फलभुग् हि वा ।
तृणभुक्चाप्यशीलश्चेन्न शुद्ध्यति कदाचन ॥ २५ ॥

जल पीकर रहने वाला, पवन पीकर रहने वाला, थोड़ा खाकर रहने वाला फल तथा पत्ती खाकर रहने वाला भी क्यों न हो, यदि शीलवान नहीं है तो वह कभी शुद्ध नहीं हो सकता है ॥ २५ ॥

दुःशीलः पशुवन्मूढो न स धर्मस्य भाजनम् ।
सच्छिद्रजलपात्रं हि नापो धारयितुं क्षमम् ॥ २६ ॥

दुःशील प्राणी पशु की तरह है, वह धर्म का भागी नहीं होता है । छिद्र वाला पात्र जल धारण नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

दुःशीलस्य भयं लोके चाविश्वासोऽयशश्च वै ।
अशान्तिः शाश्वती चास्य प्रेत्य दुःखं स भोक्ष्यति ॥ २७ ॥

दुःशील प्राणी को संसार में भय, अविश्वास, अकीर्ति तथा अक्षय अशान्ति मिलती है और मरने पर भी दुःख भोगेगा ॥ २७ ॥

स्वर्गमार्गस्य संकेतमिव शीलं समुज्ज्वलम् ।
स्वयं गन्त्री दृढा स्वर्गगामिन्यपि तु नौरिव ॥ २८ ॥

शील, स्वर्ग-मार्ग का देदीप्यमान संकेत (मार्गप्रदर्शक) है तथा स्वयं चलने वाली, स्वर्ग जाने वाली दृढ नौका की तरह है ॥ २८ ॥

दोषाभिभूतचित्तस्य शुभं सर्वं विनश्यति ।
शीलेन दोषमाक्रम्य चित्तमादौ विशोधय ॥ २९ ॥

दोष (काम-क्रोध आदि) से अभिभूत (व्याकुल) चित्त वाले मनुष्य का किया हुआ शुभ कर्म नष्ट हो जाता है। अतः सर्वप्रथम शील के द्वारा दोषों पर आक्रमण करके चित्त को शुद्ध करो ॥ २९ ॥

त्याज्य आदावहम्भावो नरेणाभ्युदयेप्सुना ।
गुणान् वृणोत्यहम्भावो यथा धूमो हि पावकम् ॥ ३० ॥

अभ्युदय चाहने वाले मनुष्य को पहिले अहंभाव का त्याग करना चाहिये। अहंभाव, गुणों को उसी तरह ढक लेता है जैसे धुआँ अग्नि को ॥ ३० ॥

द्योतन्ते न च सन्तोऽपि ह्यहंकारावृता गुणाः ।
मेघाच्छन्ना न दृश्यन्ते तारासूर्यसुधांशवः ॥ ३१ ॥

गुण रहने पर भी अहंकार से ढकजाने के कारण, प्रकाशित नहीं होते हैं। आकाश में तारे, सूर्य एवं चन्द्रमा होने पर भी मेघाच्छन्न होने पर नहीं दिखते ॥ ३१ ॥

लज्जां निहन्ति चापल्यं शोको धैर्यं जरा रुचम् ।
अहङ्कारो गुणानां तु मूलमुत्खातयत्यलम् ॥ ३२ ॥

चञ्चलता लज्जा को नष्ट करती है। शोक धैर्य को एवं वृद्धत्व (वृद्धावस्था) कान्ति को नष्ट करता है। अहंकार तो गुणों के मूल को सर्वथा उखाड़ फेंकता है ॥ ३२ ॥

सर्वाधिकं य आत्मानं मन्यते नावरं नरः ।
क्षणिके जीवने मर्त्यो बुद्धिमान् न स कथ्यते ॥ ३३ ॥

जो मनुष्य क्षणिक जीवन में अपने को सबसे बड़ा मानता है, छोटा नहीं समझता, वह बुद्धिमान नहीं कहा जाता है ॥ ३३ ॥

द्वेषाभिमानदोषेण दैत्या देवैः पराजिताः ।
पाताले पातिताश्चापि त्रिपुरो निधनं गतः ॥ ३४ ॥

द्वेष और अभिमान के दोष से दैत्य, देवताओं से पराजित हो गये तथा पाताल में गिरा दिये गये एवं त्रिपुरासुर मारा गया ॥ ३४ ॥

आकृतिर्विकृतिः प्रोक्ता प्राणी मृत्युमुखे स्थितः ।
तथाप्यहं करोत्यज्ञः कोऽन्यो मूढस्ततोऽधिकः ॥ ३५ ॥

आकृति (जन्म लेना) को विकृति (विकार) कहा गया है। प्राणी मृत्यु के मुख में स्थित है, तो भी अज्ञानी मनुष्य अहंकार करता है। उससे अधिक मूढ़ और कौन हो सकता है ? ॥ ३५ ॥

सहजौ वलिनौ गुप्तौ कामरागौ हि वैरिणौ ।
मित्रवेषेण संगम्य सर्वमर्माणि कृन्ततः ॥ ३६ ॥

काम और राग, स्वाभाविक एवं वलवान तथा गुप्त शत्रु हैं। मित्र के वेष में मिलकर सव मर्मों को काट डालते हैं ॥ ३६ ॥

कामरागात्मको वह्निर्वह्निश्चापि समौ पुनः ।
कामरागशिखादीप्तौ रात्रौ निद्रा न लभ्यते ॥ ३७ ॥

काम-राग रूप अग्नि तथा भौतिक अग्नि, दोनों समान हैं। काम-राग रूप अग्नि की शिखा प्रज्वलित होने पर रात्रि में निद्रा नहीं आती ॥ ३७ ॥

कामरागाग्निना तुल्यो नान्योऽग्निः शक्तिमान् यतः ।
प्रशाम्यत्यम्भसा वह्निरयं तु सरसापि न ॥ ३८ ॥

काम-राग रूप अग्नि के समान दूसरी अग्नि उतनी शक्तिशाली नहीं है; किन्तु यह अग्नि सरोवर आदि में डालने पर भी नहीं बुझती ॥ ३८ ॥

अग्निदग्धवने काले पुनर्वृक्षाङ्कुरोद्भवः ।
कामरागाग्निदग्धे तु धर्मो हृदि न रोहति ॥ ३९ ॥

अग्नि से जले वनों में, काल पाकर पुनः वृक्षांकुर उगते हैं। काम-राग रूप अग्नि से दग्ध हृदय में फिर से धर्म नहीं उगता ॥ ३९ ॥

कामरागात्मको मर्त्यः सुखं वाञ्छत्यहर्निशम् ।
सुखार्थी कुत्सितं कर्म कृत्वा यात्यधमां गतिम् ॥ ४० ॥

काम-राग से प्रेरित मनुष्य दिन-रात सुख की खोज में रत रहता है और सुखार्थी (सुख चाहने वाला) कुत्सित कर्म करके अधम गति को पाता है ॥४०॥

कामाद्रागस्ततश्चेच्छा ह्याशक्तिश्च ततः पुनः ।
आसक्त्या दुःखमायाति नास्ति कामसमो रिपुः ॥ ४१ ॥

काम से राग उत्पन्न होता है। राग से इच्छा उत्पन्न होती है। इच्छा से आसक्ति होती है तथा आसक्ति से दुख प्राप्त होता है। अतः काम सदृश दूसरा शत्रु नहीं ॥ ४१ ॥

कामाख्यं हि महाव्याधिं नानुपश्यति मूढधीः ।
भवान् संयममास्थाय पश्यत्वात्मविनाशनम् ॥ ४२ ॥

काम नामक महाव्याधि को मूढबुद्धि के लोग नहीं देख पाते । आप (राजा 'सिंह') संयम में स्थित होकर आत्मघाती काम को देखें ॥ ४२ ॥

कामं त्वनात्मकं दुःखमनित्यं मलिनं तथा ।
परिज्ञाय बुधो पापात्तस्मात्कामान्निवर्तते ॥ ४३ ॥

विद्वान् काम को अनात्मा (निस्सार), दुःख अनित्य तथा मलिन जानकर उस पाप काम से निवृत्त हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

यथा भूतार्थविज्ञानादाशु चित्तं विरज्यते ।
ततः कामो न वस्तुषु जायते सदसत्सु वा ॥४४॥

यथा भूतार्थ-विज्ञान से (वस्तु के तत्त्वतः ज्ञान से) चित्त शीघ्र रागरहित हो जाता है तथा शुद्ध हो जाता है । तब फिर कभी सत् या असत् वस्तु में काम पैदा नहीं होता है ॥ ४४ ॥

ध्यायतो जायते रागः पुंसो वस्तुगुणान् यथा ।
वस्तुदोषविमर्शेन तथा क्रोधोऽपि जायते ॥४५॥

वस्तु के गुणों का चिन्तन करने से, मनुष्य का वस्तु से जिस तरह राग होता है, उसी तरह वस्तु के दोष पर विचार करने पर क्रोध हो जाता है ॥ ४५ ॥

रागाधीनो न जायेत क्रोधं यो जेतुमिच्छति ।
यथा धूम उदेत्यग्नेस्तथा क्रोधो हि रागतः ॥४६॥

जो क्रोध को जीतना चाहता हो वह राग के आधीन न होवे । जैसे अग्नि से धुआँ उठता है उसी तरह राग से क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ४६ ॥

घनान्धकारश्चित्तस्य मैत्र्या मुख्यरिपुस्तथा ।
मानापघातकः क्रोधश्चापमानकरः स्मृतः ॥४७॥

क्रोध, चित्त का घना अन्धकार है । मित्रता का प्रधान शत्रु है । मान का घातक तथा अपमान का जनक है ॥ ४७ ॥

तस्मात्क्रोधो न कर्त्तव्यस्त्याज्य एव प्रयत्नतः ।
दंशधर्मं यथा सर्पं नानुगच्छति बुद्धिमान् ॥४८॥

इसलिये क्रोध नहीं करना चाहिये । (क्रोध) प्रयत्नपूर्वक त्यागना चाहिये । बुद्धिमान व्यक्ति, काटने वाला विषैला (जहरीला) सर्प का अनुसरण नहीं करता है ॥ ४८ ॥

यः साधयति वै क्रोधमुन्मार्गगं रथं यथा ।
स सूतो बुद्धिमाँश्चान्यः खलीग्राही तु केवलम् ॥४९॥

जो क्रोध को उन्मार्गगामी रथ की तरह साधता है, वह उत्तम सारथी माना जाता है। दूसरे केवल लगाम सम्हालने वाले हैं ॥ ४९ ॥

क्रोधं करोति वै मूढो रोधं तस्य न वेत्त्यलम् ।
सधूमं प्रज्वलत्यन्त आर्द्रेन्धनमिवानिशम् ॥५०॥

जो मूढ़ क्रोध तो करता है किन्तु उसका निरोध बिलकुल नहीं जानता है, वह गीली लकड़ी की तरह धुआँसहित निरन्तर अन्दर ही अन्दर जलता है ॥ ५० ॥

क्रोधाग्निः प्रथमं कर्तुर्हृदयं दंदहत्यलम् ।
ततश्चान्यान् विवृद्धः सन् संतापयति वा न वा ॥५१॥

क्रोधाग्नि, क्रोध करने वाले के हृदय को ही पहिले खूब जलाती है। बाद में बढ़ने पर दूसरों को तपाती है ॥ ५१ ॥

द्रोहेण तेषु को लाभः शत्रुष्वाकारधारिषु ।
ये स्वयं सहजैर्नित्यैर्पीडिता आमयादिभिः रोगादिभिः प्रपीडिताः ॥५२॥

उन देहधारी शत्रुओं से द्रोह करने से क्या लाभ जो सहज और नित्य रोगादि से स्वयं पीड़ित हैं ॥ ५२ ॥

अतः क्रोधनिरोधाय भवता भूतिमिच्छता ।
जीवेषु करुणा चापि मैत्री तेषु विधीयताम् ॥५३॥

इसलिये आप कल्याण पाने की इच्छा से क्रोध जीतने के लिये उन जीवों में करुणा एवं मैत्री कीजिये ॥ ५३ ॥"

इत्थं दोषान्वितं ज्ञात्वा नृपं भूतहिते रतः ।
मुनिः करुणया बुद्धया तं तु सम्यगुपादिशत् ॥५४॥

भूतों के हित में रत मुनि ने राजा को दोष-युक्त जानकर, करुणा बुद्धि से उसे इस तरह यथार्थ उपदेश दिया ॥ ५४ ॥

वैद्या व्याधिविमोक्षाय ज्ञात्वा व्याधिबलाबलम् ।
देशकालोचितं द्रव्यं ददन्ते रोगिणां कृते ॥५५॥

वैद्य व्याधि के बलाबल जानकर, व्याधि से मुक्ति पाने के लिये देश-काल के उचित द्रव्य (औषधि) रोगी को देते हैं ॥ ५५ ॥

मुनिर्जन्मजरामृत्युमहाव्याधिविमुक्तये ।
तत्त्वज्ञानौषधं दिव्यं ज्ञात्वा तान् समुपादिशत् ॥५६॥

मुनि ने जन्म, जरा (वृद्धावस्था), मृत्यु आदि महाव्याधि से मुक्ति पाने के लिये उन्हें (लिच्छवियों को) तत्त्व ज्ञान रूप दिव्य औषधि समझ कर दी ॥ ५६ ॥

श्रुतोपदेशसंहृष्टा लिच्छविनो नताननाः ।
प्रणेमुश्चलकेयूरहारकुण्डलिनो मुनिम् ॥५७॥

उपदेश सुनकर प्रसन्न हुए लिच्छवि केयूर-हार-कुण्डल को चंचल करते हुए, सिर झुकाकर मुनि को प्रणाम किये ॥ ५७ ॥

मुनिं बद्धकराः सर्वे गृहं नेतुं समुत्सुकाः ।
भिक्षार्थं विनयं चक्रुर्यथा देवा बृहस्पतिम् ॥५८॥

मुनि को घर ले जाने की उत्सुकता से उन सबों ने हाथ जोड़कर भिक्षा के लिये निवेदन किया जैसे देवता, गुरु वृहस्पति से निवेदन कर रहे हों ॥ ५८ ॥

मुनिराहाम्रपाल्या हि पूर्वं तु समयः कृतः ।
वञ्चनीया न सा हीना कुलीनधनिनां कृते ॥५९॥

मुनि ने कहा—"आम्रपाली को पहिले वचन दे चुका हूँ। कुलीन और धनी के निमित्त किसी हीन (नीच) की वंचना (उपेक्षा) नहीं करनी चाहिये ॥ ५९ ॥

अस्मत्पूर्वं मुनेरस्य ह्यातिथ्यं योषया कृतम् ।
एतन्निजावमानं ते मन्यमानाः प्रचुक्रुधुः ॥६०॥

हमसे पहिले इन मुनि का आतिथ्य एक साधारण स्त्री ने किया—इस बात को वे अपना अपमान समझते हुए कुपित हो गये ॥ ६० ॥

उपदिष्टा मुनीन्द्रेण पुनः शान्तिमुपागताः ।
यथा मन्त्रप्रभावेण विषं सार्पं निवर्तते ॥६१॥

मुनीन्द्र के द्वारा उपदेश पाने पर वे पुनः शान्त हुए जैसे मंत्र के प्रभाव से सर्प का विष निकल जाता है ॥ ६१ ॥

आम्रपाली ततः प्रातस्तस्यातिथ्यं चकार ह ।
वर्षावासाय बुद्धश्च ययौ वेणुमतीपुरम् ॥६२॥

तब आम्रपाली ने प्रातः काल उनका आतिथ्य किया, एवं बुद्ध चातुर्मास वास के लिये वेणुमती नगर को गये ॥ ६२ ॥

उषित्वा तत्र वर्षान्तं वैशालीं पुनराययौ।
अतिष्ठन्मर्कटाख्यस्य सर्वज्ञः सरसस्तटे ॥६३॥

वहाँ पर वर्षा पर्यन्त निवास करने पर वे सर्वज्ञ पुनः वैशाली लौट आये तथा मर्कट नामक सरोवर के तट पर बैठे ॥ ६३ ॥

तत्रैकस्य तरोर्मूले तिष्ठन्तं मुनिपुङ्गवम्।
समागत्य तदा मारो गिरमाह नताननः ॥६४॥

वहाँ, एक वृक्ष के मूल में बैठे हुए मुनिपुङ्गव को, मार (कामदेव) समीप में आकर, उस समय सिर झुकाकर बोला—॥ ६४ ॥

मुने नैरञ्जनातीरे पूर्वमुक्तं मयाऽनघ।
कृतकार्योऽसि निर्वाणे संधेहि मन इत्युत ॥६५॥

"हे अनघ मुनि ! नैरंजना के तट पर पहिले मैंने कहा था—'कार्य समाप्त हो चुका है, निर्वाण में मन लगाइये' ॥ ६५ ॥

यावत्तु नोद्धरिष्यामि पीडितान् पापिनस्तथा।
तावन्नैष्यामि निर्वाणमिति प्रतिश्रुतं त्वया ॥६६॥

'जब तक पीड़ित और पापियों का उद्धार नहीं कर लूँ, तब तक निर्वाण को नहीं जाऊँगा'—ऐसी आपने प्रतिज्ञा की थी ॥ ६६ ॥

इदानीं बहवो मुक्ता मुक्तिमार्गेऽपरे स्थिताः।
सर्वे निर्वाणमेष्यन्ति निर्वाणं त्वं समाप्नुहि ॥६७॥

अब तो बहुत मुक्त हो चुके, बहुत मुक्त-मार्ग में स्थित हैं—सब निर्वाण प्राप्त करेंगे। आप निर्वाण को चलें (लेवें)" ॥ ६७ ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा तमुवाचार्हतां वरः।
इतस्तृतीयमासेऽहं निर्वास्यामि हि मा शुचः ॥६८॥

अर्हत् श्रेष्ठ उसका वह वचन सुनकर उससे बोले—"आज से तीसरे महीने में मैं निर्वाण लूँगा। तुम सोच मत करो ॥ ६८ ॥"

तत्प्रतिज्ञां समाकर्ण्य मारः पूर्णमनोरथः।
सम्पादितस्वकृत्योऽसौ निजाभीष्टदिशं ययौ ॥६९॥

मार (कामदेव) उनकी प्रतिज्ञा सुनकर सफल मनोरथ होता हुआ और अपना कार्य समाप्त करके अपने अभीष्ट मार्ग की ओर चला गया ॥ ६९ ॥

मुनिश्चायुः समाकृष्य देहाच्चित्ते ततोऽनयत्।
चित्तं प्राणे समाधाय प्राणं योगेन संदधे ॥७०॥

तब मुनि ने देह से आयु को खींचकर चित्त में ले आये और चित्त को प्राण में समाधान करके प्राण को योग से जोड़ दिया ॥ ७० ॥

निपेतुर्गगनादुल्का भीमा मेरुशिलोपमाः ।
चचाल साचला भूमी रुद्धप्राणानिले मुनौ ॥७१॥

जब मुनि ने प्राण का निरोध किया तब आकाश से भयंकर सुमेरु की शिला के समान उल्कापात हुए तथा पहाड़ों सहित पृथ्वी हिल गई ॥ ७१ ॥

विद्युत्प्रद्योतिता भीमा ज्वालामालसमाकुलाः ।
समन्तात् त्रिषु लोकेषु वज्राश्चेरुः सगर्जनाः ॥७२॥

ज्वाला की मालाओं से व्याप्त भयानक विद्युत् चमकने लगी और तीनों लोकों में चारों ओर गर्जते हुए वज्रों का संचार होने लगा ॥ ७२ ॥

पर्वता उत्पतद्वृक्षशिला घोररवा मुहुः ।
ज्वालयन्तो दिशः सर्वाः सज्वालाश्च प्रजज्वलुः ॥७३॥

जिनके ऊपर के वृक्ष एवं शिलाएँ उड़ रही हैं ऐसे पर्वत बार-बार भयंकर ध्वनि करते हुए, सब दिशाओं को जलाते हुए, स्वयं ज्वालासहित जलने लगे ॥७३॥

तस्मिन् प्रलयसंकाशे संक्षोभे सार्वभौमिके ।
प्राणायामाद्विरम्यासौ जगाद मुनिनायकः ॥७४॥

उस प्रलय के समान सार्वभौमिक संक्षोभ होने पर, प्राणायाम से रुक कर मुनिनायक ने कहा—॥ ७४ ॥

मुक्तायुषो मम कलेवरमक्षभग्नं-
शक्त्याऽधुना रथसमं निपुणं वहामि ।
मुक्तोऽहमद्य भवबन्धजुषायुषा हि
भग्नाद्विहङ्ग इव निर्गत आण्डकोशात् ॥७५॥

इति श्रीरामचन्द्रदासकृते उत्तरबुद्धचरितमहाकाव्ये
आयुर्निर्णयो नाम त्रयोविंशः सर्गः ।

"जिसकी आयु निकल चुकी है ऐसा मैं, अपने शरीर को, जिसकी धुर टूट गई है ऐसे रथ के समान, अपनी शक्ति से निपुणतापूर्वक वहन कर रहा हूँ। अब मैं भवबन्धन देने वाली आयु से निकल चुका हूँ—जैसे फूटे हुए अंडे से विहंगम निकल गया हो ॥ ७५ ॥"

यह श्रीरामचन्द्रदासकृत उत्तरबुद्धचरित महाकाव्य में
"आयुनिर्णय" नामक तेईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ चतुर्विंशः सर्गः

लिच्छविष्वनुकम्पा

लिच्छवियों पर अनुकम्पा

आनन्दस्तं समालोक्य भूकम्पं जातवेपथुः।
भ्रमन्भूमौ पपाताशु छिन्नमूल इव द्रुमः ॥ १ ॥

आनन्द, उस भूकम्प को देखकर काँप गया और चक्कर खा कर भूमि पर सहसा गिर गया, जैसे मूल (जड़) कट जाने पर वृक्ष सहसा गिर जाता है ॥१॥

निमित्तज्ञं हि सर्वज्ञं निमित्तं पृष्टवानसौ।
मत्तकेशरिवाचा स तं जगाद विनायकः ॥ २ ॥

उस (आनन्द) ने निमित्त को जानने वाले सर्वज्ञ से कारण पूछा। तब वह विनायक, मत्त सिंह जैसी गम्भीर ध्वनि से उस (आनन्द) से बोले ॥ २ ॥

समाप्तो मम भूवास इति भूकम्पकारणम्।
इतो मासत्रयं शेषमायुषोऽस्ति ममानघ ॥ ३ ॥

"मेरा भूलोक का निवास समाप्त हो चुका है। भूकम्प का यही कारण है। हे अनघ ! अब मेरी आयु तीन महीने शेष है ॥ ३ ॥"

आनन्दस्तु तदाकर्ण्याशोचद् मर्माहतं भृशम्।
नेत्राम्बून्यक्षरन् वृक्षाद् गजभग्नाद्रसो यथा ॥ ४ ॥

ऐसा सुनकर आनन्द को मर्माघात जैसा शोक हुआ। उसके नेत्रों से इस प्रकार अश्रुपात होने लगा जिस प्रकार हाथी द्वारा तोड़े गये वृक्ष से रस वहने लगता है ॥ ४ ॥

गुरुश्च स्वजनस्तस्य सर्वं चासीत्तथागतः।
अतः स शोकसन्तप्तो रुरोद भृशमातुरः ॥ ५ ॥

तथागत उनके गुरु, स्वजन तथा सब कुछ थे। अतः वह (आनन्द) शोक से तप्त होकर दुःखपूर्वक अत्यन्त रोदन करने लगा ॥ ५ ॥

पूज्यस्य गुरुवर्य्यस्य निश्चयाद्दूयते मनः।
सीदन्ति मम गात्राणि श्रुतधर्मोऽपि लुप्यते ॥ ६ ॥

पूज्य गुरुवर्यके निश्चित प्रस्थान से मेरा मन दुःखी हो रहा है। मेरा शरीर संतप्त हो रहा है। सुना हुआ धर्म भी लुप्त हो रहा है ॥ ६ ॥

अहो पुरुषवन्द्योऽसौ निर्वाणं गन्तुमिच्छति ।
आलोकः सर्वलोकानां सहसाऽस्तं प्रयास्यति ।। ७ ।।

अहो, यह पुरुषवन्द्य (महापुरुषों के पूज्य) निर्वाण (देह-परित्याग) की इच्छा करते हैं । सम्पूर्ण लोकों का प्रकाश सहसा अस्त हो जायगा ।। ७ ।।

पापारण्येऽटतां पुंसां सन्मार्गच्युतकर्मणाम् ।
मार्गप्रदर्शकोऽकस्मादन्तर्भवति गौतमः ।। ८ ।।

पापरूपी अरण्य में भटकने वाले, सन्मार्ग से विचलित कर्म वाले, मार्गप्रदर्शक यह गौतम अकस्मात् अन्तर्धान हो रहे हैं ।। ८ ।।

प्रस्थितानां पिपासूनां निर्वाणाध्वनि दूरगे ।
ग्लानिदोषहरः स्वच्छो द्राक् शुष्यति सरोवरः ।। ९ ।।

दूरगामी निर्वाणपथ में प्रस्थान करने वाले पिपासुओं के ग्लानि दोष को हरने वाला निर्मल सरोवर सहसा सूख रहा है ।। ९ ।।

प्रज्ञाविकसितं भव्यं नीलपक्ष्मयुतं शुचि ।
सम्यक् त्रिकालं पश्यत् तल्लोकचक्षुर्निमील्यते ।।१०।।

जो ज्ञान से विकसित है और भव्य नील पक्ष वाला, पवित्र, त्रिकाल घटना को सम्यग् रूप से देखने वाला है वह लोकचक्षु बन्द हो रहा है ।। १० ।।

शुष्यज्ज्ञानकृषौ लोके बोधपीयूषवर्षुकः ।
जगत्संजीवनाधारो हा मेघः प्रविलीयते ।।११।।

संसार में सूख रही ज्ञान कृषि के ऊपर बोधरूपी अमृत बरसाने वाला, जगत् के जीवन का आधार मेघ, विलीन हो रहा है ।। ११ ।।

अधनानामवस्त्राणां तमश्शैत्येन सीदताम् ।
जाड्यदोषहरो दीप्तो ज्ञानाग्निस्तु प्रशाम्यति ।।१२।।

धनहीन पुरुष, जिनके पास वस्त्र नहीं है, जो अज्ञानरूपी शीत से काँप रहे हैं, उनकी जड़ता रूप दोष को हरने वाला, प्रज्वलित ज्ञान अग्नि बुझ रही है ।। १२ ।।

इत्थं शोकाकुलं शिष्यमानन्दं भयविह्वलम् ।
उवाच सान्त्वयन् बुद्धस्तत्त्वज्ञानविदां वरः ।। १३ ।।

इस तरह शोक से व्याकुल भय से विह्वल आनन्द शिष्य को सान्त्वना देते हुए, तत्त्वज्ञानियों में श्रेष्ठ बुद्ध बोले ।। १३ ।।

आनन्द ! वत्स जगतां रहस्यं ज्ञातुमर्हसि ।
जायमाने भवे भावाः स्थायिनः सन्ति न क्वचित् ॥ १४ ॥

"हे वत्स, आनन्द ! तुम्हें जगत् का रहस्य जानना चाहिये । इस संसार में जायमान पदार्थ कुछ भी स्थाई नहीं है ॥ १४ ॥

प्रागुक्तस्त्वं मया वत्स द्वन्द्वानन्दजुषो जनान् ।
गतरागेण चित्तेन सदयं दृश्यतामिति ॥ १५ ॥

हे वत्स ! मैंने पहिले ही तुमसे कहा था कि द्वन्द्व में आनन्द मानने वाले लोगों को रागरहित चित्त से दयापूर्वक देखो ॥ १५ ॥

यज्जन्यं तदनित्यं वै स्वाश्रितं नेह किञ्चन ।
अतो न कोऽपि लोकेऽस्मिन्नमरो भवितुं क्षमः ॥ १६ ॥

जो जन्य (कर्त्ता से उत्पन्न) होता है, वह अनित्य होता है । इस लोक में स्वाश्रित (स्वाधीन) कुछ नहीं है । अतः कोई भी प्राणी इस लोक में अमर होने में समर्थ नहीं है ॥ १६ ॥

नित्याः शरीरिणश्चेत्स्युः परिवर्ति च किं भवेत् ।
मुक्तेः प्रयोजनं किं स्यादाद्यन्तौ च सदावुभौ ॥ १७ ॥

यदि शरीरधारी नित्य (अविनाशी) होते तो परिवर्तित (बदलने वाला) क्या होता ? और मुक्ति का प्रयोजन क्या होता (रह जाता) तथा आदि अन्त (जन्म-मृत्यु) समान होते हैं ॥ १७ ॥

तथा च तव चान्येषां समानस्थितिभागिनाम् ।
मां प्रत्येतादृशो वत्स ! ह्यभिलाषः कथं भवेत् ॥ १८ ॥

तथा, हे वत्स ! समान स्थिति वाले तुम्हारे एवं दूसरों की मेरे प्रति उस प्रकार की अभिलाषा कैसे होती ? ॥ १८ ॥

दाढर्येन सकलो मार्गो मया ते संप्रदर्शितः ।
न बुद्धः किंचिदूर्णोति केभ्योऽपीति विभावय ॥ १९ ॥

इस तरह मैंने तुम्हारे लिये दृढतापूर्वक सम्पूर्ण मार्ग का प्रदर्शन कर दिया । बुद्ध किसी से भी कुछ नहीं छिपाता है । ऐसा समझो ॥ १९ ॥

धारयामि शरीरं वा त्यजामि द्वौ समौ मम ।
धर्ममूर्तिर्यतो बुद्धो मर्त्यदेहेन किं तव ॥ २० ॥

मैं शरीर रखूं या त्यागूं दोनों मेरे लिये समान हैं (क्योंकि) बुद्ध धर्ममूर्ति होता है । मर्त्य देह से तुम्हें क्या लाभ ॥ २० ॥

संवेगेनाप्रमादेन प्रयाणे श्रद्धया मम।
प्रज्वलितो हि मद्दीपो यतः स्थास्यति शाश्वतम्॥ २१॥

मेरे जाने के समय (प्रयाण में) संवेग और अप्रमाद (सावधानी) और श्रद्धापूर्वक मेरा प्रदीप (धर्मोपदेश) जलाया गया है। अतः सदा स्थाई रहेगा॥ २१॥

जागरूको निजं मत्वा त्वस्मिन् दीपे भवोत्सुकः।
लक्ष्यं लभस्व निर्द्वन्द्वो मनो रक्षय तामसात्॥ २२॥

अपना समझकर इस दीपक में उत्सुकतापूर्वक जागरूक रहो। निर्द्वन्द्व होकर लक्ष्य को प्राप्त करो और तम से मन की रक्षा करो॥ २२॥

अनेन ज्ञानदीपेन नश्यत्यन्तस्तमो ननु।
प्रदीपेन च लोकस्य यथागेहगतं तमः॥ २३॥

इस दीप से अन्तस्तम का नाश होता है जैसे दीपक से संसार के घर का अन्धकार दूर होता है॥ २३॥

क्षेत्राणि सन्ति चत्वारि परमश्रेय-आप्तये।
अनात्मता शरीरं च तथा चित्तं च वेदना॥ २४॥

परम श्रेय की प्राप्ति के लिये चार क्षेत्र हैं (यथा) अनात्मता, शरीर, चित्त एवं वेदना॥ २४॥

कारणाद्धि समुत्पत्तिः स्कन्धानामिति जानताम्।
पोषकोऽहन्त्वभावस्य चात्मभावो निवर्तते॥ २५॥

'स्कन्धों की उत्पत्ति कारण से होती है' ऐसा जानने वाले का अहंभाव का पोषक आत्मभाव निवृत्त हो जाता है॥ २५॥

अस्थिचर्मवसामांसमलमूत्रमयं वपुः।
पूतिमत्पश्यतां लोके देहासक्तिर्न जायते॥ २६॥

'शरीर अस्थि, चर्म, वसा, मांस, मल एवं मूत्र मय दुर्गन्धयुक्त है' ऐसा देखने वाले को संसार में देहासक्ति नहीं रह जाती है॥ २६॥

मानसस्य हि धर्मस्य भवस्थितिलयांश्च यः।
पश्यत्यसौ शान्तचेता न दृग्दोषेण लिप्यते॥ २७॥

मानस धर्म (संकल्प की) उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय को जो शान्त चित्त से देखता है, वह दृष्टिदोष से लिप्त नहीं होता॥ २७॥

वेदनाः सन्ति दुःखानि तत्तत्कारणसंभवाः ।
इति पश्यति यः सोऽसौ सुखसंज्ञां जयत्युत ॥ २८ ॥

'तत् तत् कारण से (कर्मानुसार) उत्पन्न वेदना ही दुःख है' ऐसा जो देखता है, वह सुख का भाव संज्ञा को जीत लेता है ॥ २८ ॥

रहस्यं त्वं हि चैतेषां चतुर्णां विद्धि सुव्रत ! ।
सन्नद्धो भव मार्गेऽस्मिन् दुःखनाशैककारणे ॥ २९ ॥

हे सुव्रत ! इन चारों का रहस्य तुम जानो और दुःखनाश के एकमात्र कारण इस मार्ग में (तुम) प्रवृत्त हो जाओ ॥ २९ ॥

ये च स्थास्यन्ति मार्गेऽस्मिन् परं पारं गते मयि ।
ते च प्राप्स्यन्ति निर्वाणमहार्यं नैष्ठिकं परम् ॥ ३० ॥

हमारे उस पार जाने पर जो इस मार्ग में स्थिर रहेंगे, वे अहार्य, नैष्ठिक निर्वाण पद प्राप्त करेंगे ॥ ३० ॥

इत्थं विनायकः शिष्यमानन्दं समुपादिशत् ।
लिच्छविनः श्रुतोदन्ता द्रुतं भक्त्या समाययुः ॥ ३१ ॥

इस तरह विनायक ने अपने शिष्य आनन्द को उपदेश दिया । तब यह वृत्तान्त सुनकर लिच्छवि लोग भक्ति के कारण जल्दी-जल्दी वहाँ आये ॥ ३१ ॥

श्रुतनिर्वाणवृत्तान्ता मुनिभक्तिपरायणाः ।
सन्तप्तहृदयाः सौख्यं कार्याण्यपि च तत्यजुः ॥ ३२ ॥

निर्वाण-वार्त्ता सुनकर, मुनि में भक्ति रखने वाले लिच्छवियों ने हृदय से संताप करते हुए, सुख और कार्य भी त्याग दिया ॥ ३२ ॥

प्रणम्य गुरुमेकान्ते ह्यतिष्ठंस्ते विवक्षवः ।
संबुद्धतन्मनोभावस्तानुवाच विनायकः ॥ ३३ ॥

वे (लिच्छवि) गुरु को प्रणाम करके बोलने की इच्छा से एक तरफ खड़े हो गये । उनके मनोभाव को अच्छी तरह समझकर, विनायक उनसे बोले ॥ ३३ ॥

वेद्मि तद्भवतां चित्ते मदर्थं यत्समुद्गतम् ।
त एव चाधुना यूयं शोकादन्य इवानताः ॥ ३४ ॥

"आपके चित्त में मेरे सम्बन्ध में जो कुछ उत्पन्न हो रहा है, वह मैं जानता हूँ । वे ही आप शोक के कारण अन्य की तरह होकर आये हैं ॥ ३४ ॥

लक्ष्मीवत्स्वपि युष्मासु विद्यन्ते दुर्लभा गुणाः ।
यशो विशुद्धं चायुष्यं धर्मोऽपि हृदि वर्तते ॥ ३५ ॥

लक्ष्मीवान होने पर भी आप में दुर्लभ गुण विद्यमान हैं। आयु बढ़ाने वाला विशुद्ध यश तथा धर्म भी आपके हृदय में वर्तमान है ॥ ३५ ॥

चेदस्मद्वचनात्किंचिज् ज्ञानं युष्माभिरर्जितम्।
मत्प्रयाणे मुधा शोकः करणीयो न कर्हिचित् ॥ ३६ ॥

यदि हमारे वचन से आप लोगों ने ज्ञान प्राप्त किया है तो हमारे प्रयाण में व्यर्थ शोक कभी न करें ॥ ३६ ॥

परिवर्तिनि संसारे कालभक्ष्यं कलेवरम्।
जीवनं क्षणविध्वंसि नात्र किञ्चिद्धि शाश्वतम् ॥ ३७ ॥

परिवर्तनशील संसार में कलेवर (शरीर) काल का भोजन है। जीवन क्षणभंगुर है। यहाँ कुछ भी शाश्वत (सदा रहने वाला) नहीं है ॥ ३७ ॥

वशिष्ठात्रिमहात्मानस्तापसा ऊर्ध्वरेतसः।
तेऽपि कालवशं याताः सर्वं चात्र क्षणात्मकम् ॥ ३८ ॥

वशिष्ठ आदि ऊर्ध्वरेता महात्मा तपस्वी हुए। वे भी काल के वश में हुए। यहाँ सब कुछ क्षणभंगुर है ॥ ३८ ॥

इन्द्रतुल्यो वसुः श्रीमान् मान्धाता पृथिवीपतिः।
नाभागाश्च महाभागः पञ्चत्वमगसन्नितः ॥ ३९ ॥

इन्द्र के तुल्य श्रीमान् वसु, भूपति मान्धाता तथा महाभाग नाभाग यहाँ से मर कर चले गये ॥ ३९ ॥

विद्वांसो बलिनश्चापि राजानश्च तपस्विनः।
नेह केऽपि तथा सन्ति नाशो येषां न विद्यते ॥ ४० ॥

विद्वान् बलवान् राजा तपस्वी (आदि) ऐसे कोई नहीं हैं जिनका नाश नहीं हुआ है ॥ ४० ॥

रथी भागीरथी रामो ययातिर्गतिमानजः।
कुत्सिताः कौरवाश्चापि गताःकालस्य भक्ष्यताम् ॥ ४१ ॥

रथी, भागीरथी, राम, ययाति; गतिमान् अज और कुत्सित कार्य करने वाले कौरव भी काल के ग्रास (कौर) बन गये ॥ ४१ ॥

सूर्यः पतति चाकाशादमरास्त्रिदशालयात्।
परःशता गता इन्द्रा नेह केऽपि सनातनाः ॥ ४२ ॥

समय पर सूर्य भी आकाश से गिर जाता है, देवलोक से देवता भी गिरते हैं, सैकड़ों इन्द्र समाप्त हो गये। यहाँ कोई सदा रहने वाला नहीं है ॥ ४२ ॥

अन्ये ये चापि सम्बुद्धा लोकं विद्योत्य धीत्विषा ।
दीपा इव गतस्नेहा निर्वाणं समुपागताः ॥ ४३ ॥

दूसरे जो बुद्ध हुए हैं वे बुद्धि के प्रकाश से संसार को प्रकाशित कर, तैल समाप्त हुए दीपक की तरह, सर्वथा बुझ गये ॥ ४३ ॥

भविष्यन्ति च ये बुद्धा भविष्यन्ति तपस्विनः ।
ज्वलित्वाऽन्तं प्रयास्यन्ति दग्धेन्धनकृशानुवत् ॥ ४४ ॥

और भविष्य में जो बुद्ध तपस्वी होंगे वे अन्तः प्रज्वलित होकर लकड़ी जल जाने पर अग्नि की तरह, शान्त हो जावेंगे ॥ ४४ ॥

इतो मयापि गन्तव्यं तेनैव विदुषां पथा ।
अकारणं न वोढव्यं नामरूपात्मकं वपुः ॥ ४५ ॥

मुझे भी विद्वानों के उसी मार्ग से, यहाँ से जाना चाहिये । नाम-रूपात्मक इस शरीर को बिना कारण नहीं ढोना चाहिये ॥ ४५ ॥

रम्यायामत्र वैशाल्यां कतिचित्सन्त्यदीक्षिताः ।
इतः प्रस्थातुमिच्छामि शोकेन भवतामलम् ॥ ४६ ॥

इस रम्य वैशाली नगरी में कुछ अदीक्षित (जिन्हें अभी तक बौद्ध दीक्षा नहीं मिली है, वे) रह गये हैं । मैं यहाँ से प्रस्थान करना चाहता हूँ । आप लोगों को शोक नहीं करना चाहिये ॥ ४६ ॥

निराश्रयमनित्यं च दीनं दुःखाकरं खलु ।
बुध्वा लोकमसंसक्ताः संवेगं मङ्क्षु गच्छत ॥ ४७ ॥

इस लोक को आश्रयरहित, अनित्य, दीन एवं दुःख का आकर (खदान) समझकर, अनासक्त होकर बहुत शीघ्र संवेग (वैराग्य) प्राप्त करो ॥ ४७ ॥

सारं चोपदिशंस्तावत्तेजसा प्रतपन्मुनिः ।
ग्रीष्मसूर्यसमोऽभीक्ष्णं प्रतस्थे दिशमुत्तराम् ॥ ४८ ॥

इस प्रकार मुनि ने सारा उपदेश करते हुए, अपने तेज से निरन्तर प्रज्वलित होते हुए, ग्रीष्मकालीन सूर्य के समान उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान किया ॥४८॥

अनुजग्मुस्ततश्चार्ता लिच्छविनोऽश्रुलोचनाः ।
रणद्भूषणदोर्दण्डा विलेपुर्नमिताङ्गकाः ॥ ४९ ॥

तब नेत्रों से अश्रुपात करते हुए आर्त लिच्छवि पीछे-पीछे चल दिये । उनके (लिच्छवियों के) चलने से भूषण बज रहे थे और वे सिर नीचा किये हुए विलाप कर रहे थे ॥ ४९ ॥

अहो विशुद्धहेमाभो द्वात्रिंशल्लक्षणान्वितः ।
विनङ्क्ष्यति गुरोर्देहो न्वनित्यो भगवानपि ॥ ५० ॥

अहो ! विशुद्ध स्वर्ग की आभा वाला, बत्तीस लक्षणों से युक्त गुरु का देह भी नष्ट हो जायगा । भगवान् भी अनित्य है ? ॥ ५० ॥

कृपणाँश्चाधुनाऽबोधान् बोधामृतक्षुधाकुलान् ।
ज्ञानदुग्धवती धेनुर्द्रुतं वत्सांस्त्यजत्यहो ॥ ५१ ॥

अहो ! बोधामृत की क्षुधा (भूख) से व्याकुल, अबोध बेचारे बच्चों को (हम लोगों को) ज्ञान रूप दूध देने वाली गाय (भगवान बुद्ध), सहसा त्याग रही है ॥ ५१ ॥

तमो विनाशितं येन तत्त्वं चापि विकासितम् ।
मुनिर्ज्ञानरविः सोऽयमस्तं हा गन्तुमीहते ॥ ५२ ॥

जिसने तम का नाश किया और तत्त्व का विकास किया, वह मुनि रूप ज्ञान रवि अस्त होने की इच्छा कर रहा है ॥ ५२ ॥

जगत्तापप्रतप्तानां जलराशिं च वाञ्छताम् ।
धर्मसेतुरहो दुःखं सहसैव विभज्यते ॥ ५३ ॥

विश्व रूप ताप से तपे हुए जलाशय चाहने वाले लोगों का धर्मसेतु अचानक टूट रहा है । अहो ! (यह बड़े ही) दुःख की बात है ॥ ५३ ॥

मनोरोगाकुलान् दीनान् रुदतः पीडया भृशम् ।
चिकित्सित्वा न हा याति ज्ञानेन भिषजां वरः ॥ ५४ ॥

हा ! मानसिक रोग से पीड़ित, पीड़ा से अत्यधिक रोने वाले अज्ञानी रोगियों को, ज्ञान के द्वारा चिकित्सा किये बिना ही, वैद्यों में श्रेष्ठ मुनि जा रहे हैं ॥ ५४ ॥

मनोहीरकसंप्रोतः प्रज्ञाभूषणझंकृतः ।
इन्द्रध्वजो नमत्यद्य य आसीद्विजयोत्सवः ॥ ५५ ॥

मनरूपी हीरा से जड़ित, प्रज्ञारूपी भूषण से झंकृत, इन्द्रध्वज आज झुक रहा है, जो कि विजय के उत्सव का ध्वज था ॥ ५५ ॥

कालेनाकृष्यमाणानां भवग्रन्थिमतां नृणाम् ।
मोचयिता कृपासिन्धुः साम्प्रतं यात्युपेक्ष्य च ॥ ५६ ॥

भवबन्धन में बँधे हुए, काल के द्वारा खींचे जाते हुए मनुष्यों को छुड़ाने वाले कृपासिन्धु मुनि इस समय उन (मनुष्यों) की उपेक्षा करके जा रहे हैं ॥५६॥

एवं विलपतो दीनांल्लिच्छविनोऽगुणान् मुनिः ।
शोकम्लानमुखान् गेहं प्रतियातुं समादिशत् ॥ ५७ ॥

इस तरह विलाप करने वाले, जिनके मुख शोक से म्लान हैं ऐसे गुणरहित दीन लिच्छवियों को मुनि ने घर जाने की आज्ञा दी ॥ ५७ ॥

गेहं प्रति प्रयाणायागत्या ते मुनिमानसाः ।
दूयमाना वियोगेन कथं चिन्मन आदधुः ॥ ५८ ॥

जिनका मन मुनि में आसक्त है, ऐसे वे लिच्छवि, वियोग के दुःख से दुःखी अगत्या घर लौटने के लिये कठिनता से तैयार हुए ॥ ५८ ॥

नमन्तस्ते मुनेः पादौ तप्तकाञ्चनसन्निभाः ।
बभुर्वायुचलत्पुष्पाः कर्णिकारद्रुमा इव ॥ ५९ ॥

तपे हुए स्वर्ण के सदृश शरीर वाले वे लिच्छवि, मुनि के चरणों में नमस्कार करते हुए ऐसे सुशोभित हुए मानों वायु से हिल रहे कनेर पुष्प के पौधे हों ॥ ५९ ॥

मुनिरक्तधियस्ते तु शोकावेगाचलत्पदाः ।
गन्तुं भङ्गा इवाशक्ता रयाभिमुखगामिनः ॥ ६० ॥

मुनि में अनुरक्त बुद्धि के कारण वे, शोक के आवेग से पैर आगे बढ़ाने में असमर्थ रहे; जिस प्रकार प्रवाह के सम्मुख जाने वाली लहर चलने में असमर्थ होती है ॥ ६० ॥

उषित्वा कतिचिन्मासान् स्नेहप्लावितमानसम् ।
अनावृत्ति प्रयान्तं तं ददृशुः स्वजनं यथा ॥ ६१ ॥

कुछ मास निवास करके, सदैव के लिये जाने वाले, एवं प्रेम से मन को हरने वाले उन मुनि को (लिच्छवियों ने) स्वजन की तरह देखा ॥ ६१ ॥

दीर्घकालं वनं यान्तीं गां यथा च क्षरत्स्तनीम् ।
अपीतदुग्धवत्सास्ते कातराश्चुक्रुशुर्भृशम् ॥ ६२ ॥

दीर्घ काल के लिये वन जाने वाली, जिसके थन से दूध गिर रहा हो, ऐसी अपनी माँ गाय को देखकर, जिसने कभी दूध नहीं पिया है ऐसे बछड़े की तरह वे (लिच्छवि) कातर होकर अत्यन्त विलाप करने लगे ॥ ६२ ॥

एवं दुःखपरीताङ्गाः सर्वज्ञगतचेतसः ।
निवृत्ता अवशा गेहं मृतकस्नानतो यथा ॥ ६३ ॥

'इस तरह दुःख से सारा शरीर संतप्त हो रहा है एवं सर्वज्ञ में जिनका चित्त संसक्त है' ऐसे वे पराधीन होकर घर लौटे, मानो मृतक स्नान से लौटते हों ।। ६३ ।।

दृष्टो न यैस्तु जननेऽभिभवो न दुःखं-
तिग्मैः शरैरभिहता रिपवोऽस्त्रशौण्डैः ।
येषां बलं च विभवोऽपि च राजकृत्वा
ते चाद्य खिन्नमनसो विविशुर्नगर्याम् ।। ६४ ।।

इति श्रीरामचन्द्रदासकृते उत्तरबुद्धचरितमहाकाव्ये
"लिच्छविष्वनुकम्पा" नाम
चतुर्विंशः सर्गः ।

जिन्होंने जन्म में कभी अभिभव एवं दुःख नहीं देखा, शस्त्र-विद्या में निपुण जिन्होंने तीक्ष्ण वाणों से शत्रुओं को मारा तथा जिनका बल और वैभव, राजा बनाने वाला है; उन्होंने आज उदास मन होकर नगर में प्रवेश किया ।। ६४ ।।

यह श्रीरामचन्द्रदासकृत उत्तरबुद्धचरित महाकाव्य में
लिच्छवियों पर अनुकम्पा नामक
चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

अथ पञ्चविंशः सर्गः

निर्वाणमार्गे

निर्वाण मार्ग में

वैशाली तिमिराच्छन्ना निर्वाणाय गते मुनौ।
काष्ठेव निष्प्रभा जाता राहुग्रस्ते दिवाकरे॥ १॥

जब मुनि निर्वाण के लिये गये तब वैशाली (नगरी) तिमिर से घिर कर राहु से ग्रसित सूर्य के होने पर दिशा की भाँति प्रभाशून्य हो गई॥ १॥

रम्या रम्यगुणोपेता धनधान्याश्रयाऽपि च।
अन्तःप्रकृतिसन्तापा न बभौ विधवेव सा॥ २॥

रम्य, रम्य गुणों से युक्त तथा धन-धान्य से प्रसन्न रहने पर भी वह नगरी अन्दर निवास करने वाली प्रजा के सन्ताप के कारण विधवा की तरह शोभाहीन हो गई॥ २॥

विद्यया हि विना रूपं ज्ञानञ्च क्रियया विना।
विना शक्त्या च बुद्धिर्हि शक्तिः संस्कारवर्जिता॥ ३॥

विद्या के विना रूप, क्रिया के बिना ज्ञान, शक्ति के विना बुद्धि एवं संस्कार-रहित शक्ति तथा—॥ ३॥

विना चारेण सम्पत्तिः स्नेहः श्रद्धाविवर्जितः।
उद्योगेन विना लक्ष्मीर्धर्मः कर्म विना तथा॥ ४॥

आचार (सदाचार) के बिना सम्पत्ति, श्रद्धा के बिना प्रेम, उद्योग के विना लक्ष्मी, कर्म के विना धर्म एवं—॥ ४॥

शारदे वर्षणाभावे शुष्कसस्या वसुन्धरा।
यथा नैतानि शोभन्ते बभौ सा न मुनिं विना॥ ५॥

शरद् ऋतु में वर्षा के अभाव में सूख रहे धान के कारण वसुन्धरा—ये सब जिस तरह शोभा नहीं पाते हैं, इसी तरह मुनि के बिना वह नगरी शोभा रहित हो गई॥ ५॥

न पेचुर्भोजनं केऽपि शोकान्न च पपुर्जलम्।
गायन्तो मुनिवर्यस्य सुयशो रुरुदुर्भृशम्॥ ६॥

उस दिन शोक के कारण किसी ने भी भोजन नहीं पकाया और न जल ही पिया। (वे लोग) मुनिवर्य का सुयश गाते हुए बहुत रोते रहे ॥ ६ ॥

चक्रुरूचुर्न पप्रच्छुः केचित्किंचिन्न कान्प्रति ।
यत्र तत्र च सर्वत्र क्रन्दन्तो ह्येव संस्थिताः ॥ ७ ॥

न तो कोई किसी के प्रति कुछ बोले, न कुछ पूछे और न कुछ काम ही किये। जहाँ तहाँ सब जगह रोते हुए बैठे रहे ॥ ७ ॥

तत्र सेनापतिः सिंहो विक्रान्तोऽपि हतप्रभः ।
मुनिशोकेन संतप्तो विललापाकुलेन्द्रियः ॥ ८ ॥

वहाँ दीन और मलिन सेनापत्ति सिंह—पराक्रमी होने पर भी मुनि के शोक से संतप्त होकर विलाप करने लगे। उनकी इन्द्रियाँ विकल थीं ॥ ८ ॥

पराजित्योपदिष्टाश्च मिथ्यादार्शनिका बलात् ।
येन धर्मो धृतः सम्यक् सोऽयमस्तं प्रयात्यहो ॥ ९ ॥

"अहो ! जिसने मिथ्या दार्शनिकों को वलपूर्वक पराजित करके उपदेश दिया, एवं सम्यग् रूप से धर्म को धारण किया, वह मुनि अस्त हो रहा है ॥ ९ ॥

लोकनाथो दयासिन्धुर्विलपन्तममुं जनम् ।
परित्यज्य कथं दीनं याति शान्त्युपलब्धये ॥ १० ॥

विश्व के स्वामी एवं दया के सागर मुनि, विलाप करते हुए हम जैसे दीन प्राणियों को छोड़कर, शान्ति-प्राप्ति हेतु कैसे जा रहे हैं ? ॥ १० ॥

प्रस्थानाद् गुरुवर्यस्य धैर्यं नश्यति मेऽधुना ।
ओजो यथा शरीरस्य वार्धक्यात् क्षयतः क्रमात् ॥ ११ ॥

गुरुवर्य के प्रस्थान से आज मेरा धैर्य (उसी प्रकार) नष्ट हो रहा है जिस प्रकार वृद्धावस्था के कारण क्रमशः क्षीण होने वाले शरीर का ओज नष्ट होता है ॥ ११ ॥

दिवश्च्युतोऽघरूपाभो नहुषो निष्प्रभो यथा ।
पृथिवी शोच्यतां याता विना तेन महात्मना ॥ १२ ॥

स्वर्ग से गिरने वाला पापरूप नहुष, जैसा निष्प्रभ हुआ था उसी तरह उन महात्मा के विना यह पृथ्वी शोक करने योग्य हो गई है ॥ १२ ॥

शीतार्तानां यथा वह्निर्घर्मार्तानां यथा जलम् ।
शरणं सुगतो नृणां तत्किमद्य भविष्यति ॥ १३ ॥

जिस प्रकार शीत से पीड़ित के लिये अग्नि एवं ग्रीष्म से पीड़ित के लिये जल शरण होता है; उसी प्रकार सुगत, (दुःखी) मनुष्यों के लिये शरण थे, तो अब क्या होगा ? ॥ १३ ॥

लोकाचार्ये गते चान्तं धर्मोत्पादकभस्त्रिके ।
धर्मः समुद्गमाभावादवश्यं नाशमेष्यति ॥ १४ ॥

धर्म उत्पन्न करने की भस्त्रिका स्वरूप लोकाचार्य के अन्त (निर्वाण) को चले जाने पर, उद्गम के अभाव के कारण धर्म अवश्य नष्ट हो जायगा ॥ १४ ॥

पापान् मृत्युवशान् दीनान् दुःशीलान् धर्मवर्जितान् ।
कोऽन्योऽस्ति सदृशस्तेन य एताँस्तारयिष्यति ॥ १५ ॥

मुनि के सदृश ऐसा कौन है जो इन पापी मृत्यु के वशीभूत दीन, दुःशील एवं धर्मरहितों को तारेगा ॥ १५ ॥

शुष्यद्वृक्षानिव ग्रीष्मे कामेन ज्वलिताञ्जनान् ।
मेघेनेव विना तेन कोऽन्यस्ताञ्जीवयिष्यति ॥ १६ ॥

ग्रीष्म काल में शुष्क वृक्ष की तरह, काम से जल रहे इन लोगों को, मेघसदृश उन मुनि के बिना दूसरा कौन जीवित करेगा ? ॥ १६ ॥

श्रेयःसाधनसंलग्ने मेरुसारे गते मुनौ ।
कोऽन्यः क्लिष्टतराराध्ये धर्मे विश्वासयिष्यति ॥ १७ ॥

श्रेय साधन में संलग्न, मेरुसार मुनि के चले जाने पर, अत्यन्त क्लिष्ट साध्य धर्म में, दूसरा कौन विश्वास दिलायेगा ? ॥ १७ ॥

विटपाः क्रकचैस्तीक्ष्णैर्भिद्यन्ते कालनोदिताः ।
विनाशक्रकचैर्लोका दीर्यन्ते ह्यवशं तथा ॥ १८ ॥

(जिस प्रकार) काल से प्रेरित वृक्ष तीक्ष्ण आरे से काटे जाते हैं; उसी प्रकार ये प्राणी विनाशरूप आरे से परवश चीरे जा रहे हैं ॥ १८ ॥

निर्जिताशेषदोषोऽपि ज्ञानशस्त्रधृतोऽपि सन् ।
लोकाचार्योऽपि सर्वज्ञो विनाशं प्रति गच्छति ॥ १९ ॥

अशेष दोषों को जीतने पर भी, ज्ञानरूपी शस्त्र धारण करने पर भी, लोक के आचार्य सर्वज्ञ भी विनाश को प्राप्त हो रहे हैं ॥ १९ ॥

इच्छोर्मिभीषणाद्यो वै कामग्राहाकुलान्मुनिः ।
ज्ञाननावोद्धारासौ दुष्कृतान् भवसागरात् ॥ २० ॥

इच्छारूपी भयंकर लहर वाला एवं कामरूपी ग्राह से व्याप्त, भवसागर से पापियों को जिस मुनि ने ज्ञान नौका से उद्धार किया ॥ २० ॥

व्याधिपुष्पं जराशाखं जन्ममृत्युफलप्रदम् ।
ज्ञानशस्त्रेण यो बुद्धश्चिच्छेद भवपादपम् ॥ २१ ॥

व्याधि जिसके फूल हैं, वृद्धावस्था जिसकी शाखा है तथा जो जन्म एवं मृत्यु रूप फल देनेवाला है; ऐसे भव-वृक्ष को जिस बुद्ध ने ज्ञानरूपी शस्त्र से काट डाला ॥ २१ ॥

कामज्वालं विपद्धूमं मोहजं विषयेन्धनम् ।
दोषाग्निं सिञ्चयामास मुनिर्ज्ञानजलेन यः ॥ २२ ॥

काम जिसकी ज्वाला है, विपत्ति जिसका धुआँ है, विषय जिसका इंधन है तथा जो मोह से उत्पन्न है, ऐसी दोषाग्नि को जिस मुनि ने ज्ञान जल से बुझा दी ॥ २२ ॥

शान्त्यध्वास्वीकृतो येन नाशितं मोहजं तमः ।
लब्धं च नैष्ठिकं ज्ञानमुपदिष्टं यथायथम् ॥ २३ ॥

जिसने शान्ति मार्ग का आश्रय लिया, मोहजनित अज्ञान को नष्ट किया, नैष्ठिक ज्ञान को प्राप्त किया तथा उसका यथार्थ रूप से उपदेश किया ॥ २३ ॥

येनाशेषीकृता दोषा जीवेष्वपि दया कृता ।
उपकाररतेनैव सर्वं त्यक्तं निजात्मकम् ॥ २४ ॥

जिसने दोषों को बीजरहित कर दिया, जीवों पर भी दया की तथा उपकार में रत रहते हुए अपने पर्न का सर्वथा त्याग किया ॥ २४ ॥

सोऽपि गच्छति नाशं चेन्मृदुभाषी महाभुजः ।
पीनवक्षा वृषस्कन्धो जीविष्यन्त्यत्र के पुनः ॥ २५ ॥

वह मृदुभाषी, आजानुबाहु, विशालवक्षा, वृषभ के समान कन्धा वाले मुनि भी विनाश को प्राप्त होंगे, तो इस लोक में कौन जीवित रहेंगे ॥ २५ ॥

धर्मः शरणमेवातो गन्तव्यो धीमता द्रुतम् ।
यथा वणिक् पथि भ्रष्टो वने धावति वारिणे ॥ २६ ॥

अतः बुद्धिमानों को चाहिये कि शीघ्रातिशीघ्र धर्म की शरण में (उसी प्रकार) चला जावे जिस प्रकार वन में रास्ता भूला हुआ व्यापारी जलाशय की शरण में जाता है ॥ २६ ॥

मृत्युर्नित्यः समश्चास्ति द्वैतभावं न गच्छति।
इति बुद्ध्वा तु यो धर्मेऽप्रमत्तः सोऽत्र पश्यति ॥ २७ ॥

मृत्यु नित्य है और समान है। वह भेद-बुद्धि नहीं रखती है (अर्थात् विद्वान्, मूर्ख, धनी तथा गरीब का भेद नहीं रखती है)—ऐसा समझकर जो धर्म में सावधान रहता है वही यहाँ देखता है ॥ २७ ॥

एवं ज्ञानोपभोक्ता स सिंहो नरहरिस्तदा।
अनिन्दज्जन्मनो दोषं जन्मनाशं नुनाव च ॥ २८ ॥

इस तरह ज्ञान का उपभोक्ता नरश्रेष्ठ उस सिंह ने जन्म के दोष की निन्दा एवं जन्म-नाश की स्तुति की ॥ २८ ॥

उच्छेत्तुं जन्मनो मूलमभ्युपेतुं च सद्व्रतम्।
निरोद्धुं च चलं चित्तं मतं जग्राह नैष्ठिकम् ॥ २९ ॥

और जन्म का मूल छेदने के लिए, उत्तम व्रत प्राप्त करने के लिये तथा चंचल चित्त के निरोध के लिये, नैष्ठिक मत स्वीकार किया ॥ २९ ॥

चलितुं शान्तिमार्गे तु तरितुं भवसागरम्।
समदृष्टिं च वै लब्धुं जन्मोच्छेदमियेष सः ॥ ३० ॥

वह, शान्तिमार्ग में चलने के लिये, भवसागर पार करने के लिये एवं समदृष्टि प्राप्त करने के लिये, जन्मनाश का प्रयत्न करने लगा ॥ ३० ॥

तदोद्दिश्य मुनिं सिंहो ददौ दानं जहौ तमः।
लेभे शान्तिं दधौ धर्मं शून्यां मेने वसुन्धराम् ॥ ३१ ॥

उस समय, उस सिंह ने मुनि के उद्देश से दान दिया, मोह का परित्याग किया तथा वसुन्धरा को शून्य माना ॥ ३१ ॥

ततः शौद्धोदनिः श्रीमान् परावर्त्याखिलं वपुः।
नगरं मत्तमातङ्ग इव पश्यञ्जगाद वै ॥ ३२ ॥

तब मदमत्त हाथी के समान श्रीमान् शौद्धोदनि सब शरीर को लौटाकर (पूर्ण रूप से घूमकर) नगर की ओर देखते हुए बोले—॥ ३२ ॥

पुनर्वैशालि ! न त्वां हि द्रक्ष्याम्यस्मिन् भवे शुभे !।
यतो गच्छाम्यहं भद्रे ! निर्वाणाय शुभाय वै ॥ ३३ ॥

"हे वैशाली ! इस जन्म में मैं तुम्हें पुनः नहीं देखूँगा, क्योंकि हे शुभे ! हे भद्रे ! मैं शुभ निर्वाण के लिये जा रहा हूँ ।। ३३ ।।"

अन्वायतो जनान् सर्वान् धार्मिकान् प्रणयानतान् ।
प्रवृत्तिलग्नचित्ताँस्तान् विलोक्य निरवर्तयत् ।। ३४ ।।

प्रेम से सिर झुकाये हुए अपने पीछे आने वाले सब लोगों को, तथागत ने देखा तथा 'इनका मन प्रवृत्ति में फँसा हुआ है'—ऐसा जानकर उन्हें लौटा दिया ।। ३४ ।।

ततो गच्छन् क्रमाद् बुद्धो ययौ भोगवतीं पुरीम् ।
किंचिद्विरम्य तत्रासौ जगादानुचरान् वशी ।। ३५ ।।

तब वह जितेन्द्रिय बुद्ध क्रम से चलते हुए भोगवती नगरी को गये । वहाँ कुछ क्षण रुककर अनुचरों से बोले—।। ३५ ।।

युष्माभिर्निपुणं धर्मो भावनीयो गते मयि ।
एतदेव परं लक्ष्यं मिथ्या चान्यत्तु निश्चितम् ।। ३६ ।।

हमारे जाने पर आप लोग कुशलपूर्वक धर्म की भावना करें—यही परम लक्ष्य है । इसके अतिरिक्त सब निश्चित (ही) मिथ्या है ।। ३६ ।।

न निबद्धं तु यत्सूत्रे विनये यन्न दृश्यते ।
मद्विरुद्धं तु तज्ज्ञेयं न मन्तव्यं कदाचन ।। ३७ ।।

मैंने जो सूत्र नहीं लिखा है तथा विनय में जो नहीं आता है उसे मेरे मत के विरुद्ध जानना चाहिये तथा कभी नहीं मानना चाहिये ।। ३७ ।।

न स धर्मो न यत्रास्ति विनयो नापि मद्वचः ।
बहुधा कथितश्चापि प्रलापो हेयमेव तत् ।। ३८ ।।

जिसमें विनय नहीं है वह न तो मेरा वचन है और न धर्म ही है । बहुत प्रकार का वचन कहने पर भी उसे प्रलाप समझ कर त्याग देना चाहिये ।। ३८ ।।

पवित्राणां वचो ग्राह्यं स धर्मो विनयश्च सः ।
तदेव मद्वचश्चापि चान्यत्सर्वं विनाशकृत् ।। ३९ ।।

पवित्रों का वचन ग्रहण करना चाहिये—वही धर्म है, वही विनय है तथा वही मेरा वचन भी है । अन्य सब विनाश करने वाला है ।। ३९ ।।

यच्छ्रद्धेयं तु तत्सर्वं सूत्रे प्रोतं समासतः ।
उदाहार्यानुकार्यं तन्न प्रमाणमृते ततः ।। ४० ।।

जो श्रद्धेय है वह सब संक्षेप से सूत्र में जिस तरह दिया गया है वह उदाहार्य एवं अनुकार्य है । इसके अतिरिक्त प्रमाण नहीं है ॥ ४० ॥

मम धर्मेष्वविश्वासादज्ञानादविचारणात् ।
अधर्मकारकं भूरि धर्मशास्त्रं जनिष्यते ॥ ४१ ॥

हमारे धर्म में अविश्वास के कारण तथा अज्ञान एवं अविचार के कारण, अधर्म उत्पन्न करने वाले अन्य अनेक धर्मशास्त्रों का निर्माण होगा ॥ ४१ ॥

सूक्ष्मबुद्धेरभावाद्वा भ्रमाद्वा विषयाग्रहात् ।
काचरत्नं समादत्ते मणिं हित्वाऽतिमूल्यकम् ॥ ४२ ॥

सूक्ष्म बुद्धि के अभाव के कारण, या भ्रम के कारण अथवा विषयासक्ति के कारण, लोग वहुमूल्य मणि त्याग कर काच मणि को ग्रहण कर लेते हैं ॥ ४२ ॥

वञ्चनं तत्तु विज्ञेयं यस्मिन् धर्मो न सौगतः ।
तस्योत्पत्तिस्तु पाखण्डात्तत्त्वज्ञानादृतेऽथवा ॥ ४३ ॥

जिसमें सौगत धर्म नहीं है उसे वंचना समझनी चाहिये । उसकी उत्पत्ति तो पाखण्ड अथवा तत्त्व ज्ञान के अभाव से हुई है ॥ ४३ ॥

छित्त्वा भित्त्वा च संताप्य यथा रुक्मं परीक्षते ।
धर्मो ज्ञेयो भवद्भिश्च सूत्राचारबलात्तथा ॥ ४४ ॥

जिस तरह छेदकर, भेदकर एवं तपाकर स्वर्ण की परीक्षा होती है; उसी तरह सूत्र एवं आचार बल से आप लोग धर्म की परीक्षा करें ॥ ४४ ॥

न्याय्यमन्याय्यमित्येवमन्याय्यं न्याय्यमेव च ।
पश्यत्यज्ञो विरुद्धं हि शास्त्राध्ययनवर्जितः ॥ ४५ ॥

अज्ञानी लोग जो शास्त्र का अध्ययन नहीं किये हैं, वे न्याय्य (उचित) को अन्याय्य (अनुचित) एवं अन्याय्य को न्याय्य—इस तरह विरुद्ध देखते हैं ॥ ४५ ॥

अर्थतः शब्दतश्चापि शास्त्रं ग्राह्यं विधानतः ।
नो चेत्स्वाङ्गं हि कृन्तन्ति विपरीतधृतायुधाः ॥ ४६ ॥

शास्त्र को अर्थ से एवं शब्द से भी विधि-पूर्वक समझना चाहिये । अन्यथा विपरीत (उल्टा) शस्त्र पकड़ने वाले अपने ही अंग काटते हैं ॥ ४६ ॥

शब्दज्ञानादृतेऽर्थस्य ज्ञानं शास्त्रस्य दुर्लभम् ।
संज्ञानं चापि केषाञ्चिन्न भवत्याकृतिं विना ॥ ४७ ॥

शब्द-ज्ञान के बिना शास्त्र का अर्थ-ज्ञान उसी तरह दुर्लभ है; जिस तरह आकृति के बिना पहिचान होना भी कठिन है ॥ ४७ ॥

स एव बुद्धिमाँल्लोके योऽर्थं गृह्णाति तत्त्वतः ।
अर्थाभावे तु धर्मस्य नाशस्तस्मान्न पात्रता ॥ ४८ ॥

संसार में वही बुद्धिमान है जो तत्त्वतः अर्थ-ग्रहण करता है। अर्थ न जानने से धर्म का नाश होता है तथा उससे सुपात्रता नहीं आती ॥ ४८ ॥"

इत्युक्त्वा भगवान् काले ययौ पापापुरीं प्रति ।
तत्र मल्लैः समागत्य समारोहेण सत्कृतः ॥ ४९ ॥

ऐसा कहकर भगवान् बुद्ध समय पर पापापुरी को गये। वहाँ मल्लों ने सम्मिलित होकर समारोह के साथ उनका स्वागत किया ॥ ४९ ॥

तत्र चुन्दस्य भक्तस्य गृहे भोजनमन्तिमम् ।
आददे तद्धितायैव न स्वार्थाय दयानिधिः ॥ ५० ॥

वहाँ दया-निधि बुद्ध भक्त चुन्द के घर में अन्तिम भोजन किया—उसी (चुन्द) के हित के लिये, न कि अपने स्वार्थ के लिये ॥ ५० ॥

भुक्ते च शिष्यसंघाते भगवान् भक्तवत्सलः ।
चुन्दाय धर्ममादिश्य कुशीनगरमाययौ ॥ ५१ ॥

शिष्य संघ के भोजन कर लेने पर, भक्तवत्सल भगवान ने चुन्द को उपदेश किया एवं वहाँ से कुशीनगर को गये ॥ ५१ ॥

इरावतीं नदीं तीर्त्वा सह चुन्देन गौतमः ।
नगरोपवने रम्ये संतस्थे सरसस्तटे ॥ ५२ ॥

चुन्द के साथ गौतम, इरावती नदी को पार कर, नगर के सुन्दर उपवन में तालाब के तट पर बैठे ॥ ५२ ॥

तस्यां हिरण्यवत्यां स सस्नौ शुकनखप्रभः ।
ततः शोकाकुलं शिष्यमानन्दमिदमादिशत् ॥ ५३ ॥

सुआ (तोता) के नख के समान कान्ति वाले उन गौतम ने वहाँ हिरण्यवती नदी में स्नान किया। फिर शोक से व्याकुल 'आनन्द' शिष्य को इस तरह आदेश दिया—॥ ५३ ॥

आनन्द ! शयनीयं मे मध्ये तच्छालवृक्षयोः ।
रच्यतां तु महाभाग ! बुद्धो निर्वाणमेष्यति ॥ ५४ ॥

"हे आनन्द ! उन दोनों शाल वृक्षों के बीच में मेरा शयन स्थान रचो ! हे महाभाग ! बुद्ध निर्वाण को जायगा ।। ५४ ।।

आनन्दस्तद्वचः श्रुत्वा सबाष्पो विलपन् भृशम् ।
विरच्य शयनीयं तत्साञ्जलिः स व्यजिज्ञपत् ।। ५५ ।।

तब इस प्रकार वचन सुनकर, नेत्रों से अश्रु बहाते हुए एवं अत्यन्त विलाप करते हुए उस आनन्द ने शयन-स्थान रचकर, सांजलि निवेदन किया ।। ५५ ।।

शाश्वत्यै चिरनिद्रायै सर्वदुःखोपशान्तये ।
शान्तः पुरुषसिंहोऽसौ ययौ पर्यङ्कमन्तिमम् ।। ५६ ।।

तब वे पुरुषसिंह शाश्वत चिर निद्रा एवं सब दुःखों की सर्वथा उपशान्ति के लिये शान्त चित्त से अन्तिम शय्या पर गये ॥ ५६ ॥

तत्रैकचरणे न्यस्य ह्यपरं चरणं मुनिः ।
शिरो भुजोपधाने च स शिश्ये शिष्यसम्मुखः ।। ५७ ।।

वहाँ पर एक घुटने पर दूसरा चरण रखकर, भुजा को सिर का उपधान बनाकर वे मुनि शिष्यों की ओर मुख करके सोये ।। ५७ ।।

तदा शान्ता दिशः सर्वा निःशब्दाश्च पतत्त्रिणः ।
मौनिनो जन्तवः सर्वे जगत्स्तब्धमिवाभवत् ।। ५८ ।।

उस समय सारी दिशाएँ शान्त हो गईं । पक्षी निःशब्द हो गये । सब जन्तु मौन थे । जगत् मानो स्तब्ध (जकड़) हो गया हो ।। ५८ ।।

निर्वातेऽपि चलत्पत्रा हृष्टलोमा इवाधितः ।
अश्रूणीव विवर्णानि पुष्पाणि तरवोऽमुचन् ।। ५९ ।।

निर्वात (वायुरहित) होने पर भी वृक्षों के पत्ते हिल रहे थे मानो मानसिक दुःख के कारण सिहर (रोमांचित हो) रहे हों, एवं (वे वृक्ष) सूखे फूलों को गिरा रहे थे मानो मुनि के शोक में अश्रुपात कर रहे हों ।। ५९ ।।

त्वरा भवति पान्थानामस्तं यास्यति भास्करे ।
शिष्याणां पश्यतां बुद्धं तथाऽभूल्लक्ष्यलब्धये ।। ६० ।।

सूर्य के अस्त होते समय; जिस प्रकार पथिकों को शीघ्रता होती है, बुद्ध को देखकर, उसी प्रकार शिष्यों को ज्ञान प्राप्ति के लिये शीघ्रता हुई ।। ६० ।।

शश्वद्विश्रामशय्यायां शयानः करुणामयः ।
बाष्पाविलमुखं खिन्नमानन्दमिदमब्रवीत् ।। ६१ ।।

सदा के लिये विश्राम शय्या पर सोये हुए करुणामय बुद्ध, अश्रु से गीले (भींगे) मुख एवं खिन्न चित्त वाले आनन्द से, इस प्रकार बोले—॥ ६१ ॥

मल्लानाख्याहि मे कालं प्रयाणस्य महामते ! ।
पश्यन्तु तेऽपि निर्वाणं मा हि पश्चात्तपन्तु ते ॥ ६२ ॥

"हे महामते आनन्द ! मल्लों को हमारे प्रयाण का समय, जाकर के बता दो। वे भी निर्वाण देखें जिससे बाद में पश्चात्ताप न करें ॥ ६२ ॥

ततोऽश्रूणि मृजन् दीनो गत्वानन्द उवाच तान् ।
निर्वाणेप्सुर्मुनिः शेत इत्युक्त्वा संरुरोद सः ॥ ६३ ॥

तब अश्रु पोंछते हुए दीन (दुःखी) आनन्द ने उन्हें (मल्लों को) बताया कि मुनि निर्वाण की इच्छा से सो रहे हैं। ऐसा कहकर वह बहुत जोर से रोने लगा ॥ ६३ ॥

मल्ला दुःखं तदाकर्ण्य संतप्तसकलेन्द्रियाः ।
सभयं निर्ययुर्गेहात्सिंहार्ता वृषभा इव ॥ ६४ ॥

वह दुःखद समाचार सुनकर संतप्त इन्द्रियों वाले वे मल्ल, भयभीत होकर उसी तरह निकले जिस तरह सिंह के भय से व्याकुल वृषभ ॥ ६४ ॥

क्लिन्नाक्षः कम्पिताङ्गास्ते विवर्णा व्यस्तमूर्धजाः ।
तत्राययुर्हि निष्पुण्या देवा इव दिवश्च्युताः ॥ ६५ ॥

जिनकी आँखें गीली हो रही थीं, शरीर काँप रहा था, रंग फीका पड़ गया था तथा बाल बिखर रहे थे ऐसे वे मल्ल वहाँ पर, पुण्य क्षीण होने पर स्वर्ग से पतित देवता की तरह आये ॥ ६५ ॥

अश्रुभिश्च मुनेः पादौ क्लेदयन्तः शुचार्दिताः ।
साञ्जलयः प्रणम्याग्रे ते तस्थुर्मौनमास्थिताः ॥ ६६ ॥

शोक से व्याकुल हो, अश्रुओं से मुनि के चरणों को भिगोते हुए, सांजलि प्रणाम करके वे (मल्ल) सम्मुख मौन खड़े हुए ॥ ६५ ॥

मुनिराह सुखस्थाने नोचितं दुःखभावनम् ।
दुर्लभं प्रार्थितं लक्ष्यमद्य मे समुपस्थितम् ॥ ६७ ॥

मुनि ने कहा—"सुख के स्थान में दुःख की भावना करना उचित नहीं। यह दुर्लभ एवं प्रार्थित लक्ष्य आज मुझे प्राप्त हो रहा है ॥ ६७ ॥

पञ्चभूतैरसंस्पृष्टमजं दिव्यमतीन्द्रियम् ।
शान्तं सुखमयं पुण्यं लब्ध्वा यन्न च सोचति ॥ ६८ ॥

मुझे वह सुखमय पुण्य प्राप्त हुआ है, जो पंचभूतों से अछूत है और अजन्मा, दिव्य, इन्द्रियातीत, शान्त एवं जिसको प्राप्त करने पर फिर शोक नहीं होता ।। ६८ ।।

जन्मप्रदानि कर्माणि पूर्वं छिन्नानि सर्वशः ।
शेषैर्दोषालयः कायो ममाद्यापीह वर्तते ।। ६९ ।।

मैंने जन्मप्रद कर्मों को पहिले ही अशेष रूप से छेद डाला है । अवशिष्ट कर्म के सहारे दोष का आलय (गृह) यह मेरा शरीर आज भी विद्यमान है ।। ६९ ।।

नायं शोककरः कालो यूयं रोदथ किं मुधा ।
भौतिको दुःखमूलोऽयं कायो मेऽद्य निवर्तते ।। ७० ।।

यह शोक का समय नहीं है । आप लोग व्यर्थ क्यों रोते हैं ? दुःख का मूल यह मेरा भौतिक शरीर आज निवृत्त हो रहा है ।। ७० ।।

निर्वाणस्य ध्रुवं कालं श्रुत्वा मुनिमुखात्ततः ।
तेषु वृद्धतमश्चैकः सान्त्वयन्निदमब्रवीत् ।। ७१ ।।

तब मुनि के मुख से निर्वाण का निश्चित काल सुनकर, उन मल्लों में एक अत्यन्त वृद्ध सबको सांत्वना देता हुआ इस प्रकार बोला ।। ७१ ।।

न शोच्यः सुगतः काले च्युता देवा अपि ध्रुवम् ।
प्रज्वलिताद् गृहात्तूर्णं निर्यास्यन्निव गौतमः ।। ७२ ।।

सुगत के लिये शोक नहीं करना चाहिये । (क्योंकि) काल पाकर देवता भी स्वर्ग से च्युत होते हैं । (फिर) गौतम तो मानो प्रज्वलित गृह से शीघ्र निकल रहे हों ।। ७२ ।।

तथापि दूयते चेतो मिलिता न पुनर्जिनः ।
जगद्धितावहे नष्टे कः कृतज्ञो न खिद्यते ।। ७३ ।।

तथापि चित्त दुःखी हो रहा है क्योंकि 'जिन' फिर नहीं मिलेंगे । जगत् के हित करने वाले की मृत्यु पर कौन कृतज्ञ दुःखी नहीं होगा ।। ७३ ।।

ते शोच्या ये मुनिं दृष्ट्वा नाद्यापि सुपथं ययुः ।
स्वर्णाकरं गताश्चापि दरिद्रा एव चागताः ।। ७४ ।।

वे सोचने योग्य हैं (शोक करने योग्य हैं) जो मुनि को दर्शन करके आज भी सुमार्ग में नहीं गये । (वे लोग) स्वर्ण के आकार (खदान) में जाकर भी दरिद्र ही लौटे ।। ७४ ।।

इत्युक्तेषु च मल्लेषु पुत्रवत्सु महामुनिः ।
अर्थगम्भीरया वाचा जगाद जलदस्वनः ।। ७५ ।।

पुत्रवत् प्रिय उन मल्लों के इस तरह कहने पर, मेघ के समान गम्भीर ध्वनि वाले महामुनि अर्थ से गम्भीर वचन बोले—।। ७५ ।।

दुरूहस्य हि योगस्य सम्यगाचरणं विना ।
न सम्भवति मुक्तिर्वै केवलं मम दर्शनात् ।। ७६ ।।

दुरूह योग का सम्यग् आचरण के विना केवल मेरे दर्शन मात्र से मुक्ति सम्भव नहीं है ।। ७६ ।।

मम ये तु मतं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।
मुच्यन्ते सर्वदुःखेभ्यो मद्दर्शनमृतेऽपि ते ।। ७७ ।।

जो मनुष्य मेरे मत का नित्य अनुष्ठान करेंगे, वे मेरे दर्शन के विना भी सम्पूर्ण दुःखों से छूट जावेंगे ।। ७७ ।।

वैद्यदर्शनमात्रेण विनाप्यौषधसेवनम् ।
रोगमुक्तिर्न लोकानां निर्वाणोऽपि तथा स्मृतः ।। ७८ ।।

औषधि सेवन के विना वैद्य के दर्शन मात्र से लोगों को रोग-विमुक्ति नहीं होती । निर्वाण भी इसी तरह का है—ऐसा कहा गया है ।। ७८ ।।

मद्धर्मचारिणो मां हि वीक्षन्ते दूरगा अपि ।
मद्धर्मविरतास्ते मां न पश्यन्ति पुरःस्थिताः ।। ७९ ।।

मेरे धर्म का आचरण करने वाले मुझसे दूर रहने पर भी मुझे देखते हैं, किन्तु मेरे धर्म से विरक्त लोग मेरे सामने रहने पर भी मुझे नहीं देखते हैं ।।७९।।

अतो निरालसो वीर्यमाधाय श्रेय आचर ।
प्रवातस्थस्य दीपस्य शिखावज्जीवनं चलम् ।। ८० ।।

अतः आलस्य छोड़कर वीर्य का अवलम्बन लेकर श्रेय का आचरण करो । जीवन, तेज हवा में रखे हुए दीपक की शिखा की तरह चंचल है ।। ८० ।।

इति मुनिवरवाण्या बोधिता मल्लसंघा-
मुनिविरहविषादक्षुब्धचित्ता भृशार्ताः ।
खररयमिव नद्या अन्तरालं तरन्तः
कथमपि निजगेहं प्रापुरन्तो रुदन्तः ।। ८१ ।।

इति श्रीरामचन्द्रदासकृते उत्तरबुद्धचरितमहाकाव्ये
"निर्वाणमार्गे" नाम पञ्चविंशः
सर्गः समाप्तः ।

इस तरह मुनि की सुन्दर वाणी से बोधप्राप्त मल्लसमूह, मुनि के विरह के विषाद से क्षुब्ध चित्त वाला, अत्यन्त दुःखी होता हुआ तीव्र प्रवाह वाली नदी के अन्तराल को पार करने की तरह, कठिनता से अपने घर को रोता हुआ, प्राप्त हुआ ॥ ८१ ॥

यह श्रीरामचन्द्रदासकृत उत्तरबुद्धचरित महाकाव्य में
'निर्वाण मार्ग में, नामक पच्चीसवाँ सर्ग
समाप्त हुआ ।

अथ षड्विंशः सर्गः

महापरिनिर्वाणम्

महापरिनिर्वाण

ततः सुभद्रनामा वै त्रिदण्डी सद्गुणान्वितः ।
निर्वाणेप्सुर्मुनिं द्रष्टुं समागत्याब्रवीद्वचः ।। १ ।।

तब सद्गुणों से युक्त सुभद्र नामक एक त्रिदण्डी, निर्वाण की इच्छा वाले मुनि को देखने के लिये आया ।। १ ।।

मुनिं द्रष्टुमिहायातो निर्वाणक्षणसंस्थितम् ।
दर्शनं लब्धधर्मस्य पर्वेन्दोरिव दुर्लभम् ।। २ ।।

"निर्वाण के अन्तिम क्षण में स्थित मुनि को देखने के लिए मैं यहाँ आया हूँ। लब्धधर्मा का दर्शन, पार्वण चन्द्रमा के दर्शन की तरह दुर्लभ होता है ।। २ ।।

द्रक्ष्यामि तं मुनिं यो हि दुःखान्तं गन्तुमिच्छति ।
मागात्सूर्यस्तिरोधानं मेघेनालोकनं विना ।। ३ ।।

(मैं) उन मुनि को देखूँगा जो दुःख के अन्त तक जाना चाहते हैं । दर्शन किये विना ही, कहीं सूर्य मेघ से ढक न जावे ।। ३ ।।"

धर्मपृच्छाच्छलेनैवायं वटुर्विवदिष्यते ।
इत्याशङ्क्य स आनन्दो दर्शनान्निषिषेध तम् ।। ४ ।।

धर्म पूछने के बहाने, यह वटु कहीं विवाद करने न लग जावे, इस आशंका से उस आनन्द (शिष्य) ने उसे दर्शन से रोक दिया ।। ४ ।।

हताशं द्विजमालोक्य जनाशयविदां वरः ।
मा निवारय वै भिक्षुमित्याह मुनिनायकः ।। ५ ।।

लोगों के आशय को जानने वालों में श्रेष्ठ मुनिनायक ने उस द्विज को हताश देखकर कहा—"हे आनन्द ! उसको मत रोको ।। ५ ।।"

ततस्तुष्टमना दान्तः सुभद्रो विनयान्वितः ।
तच्चासाद्य प्रणम्यासावाह सामयिकं वचः ।। ६ ।।

तब सन्तुष्टमन तथा दान्त सुभद्र विनय से युक्त होकर उनके (सुगत के) पास गया और प्रणाम करके समयानुकूल वचन बोला ।। ६ ।।

भगवन् ! मोक्षमार्गं यमाश्रितो ऽत्रभवान् हि सः ।
अन्यदार्शनिकानां तु मार्गादन्य इति श्रुतम् ॥ ७ ॥

"हे भगवन् ! आपने जिस मोक्ष-मार्ग का आश्रय लिया है वह अन्य दार्शनिकों के मार्ग से भिन्न है—ऐसा मैंने सुना है ॥ ७ ॥

कीदृशः स कृपापुञ्ज ! मां हि व्याख्यातुमर्हसि ।
जिज्ञासुरहमायातो विवादं कर्तुमत्र नो ॥ ८ ॥

हे कृपापुंज ! वह मार्ग कैसा है ? उसे मुझे कहने की कृपा करें । मैं जिज्ञासा लेकर आया हूँ, न कि विवाद करने ॥ ८ ॥"

तत आष्टाङ्गिको मार्गः सुलभः सर्वदेहिनाम् ।
प्रश्रिताय सुभद्राय व्याख्यातः सुगतेन वै ॥ ९ ॥

तव सुगत ने नम्र सुभद्र को सब देहधारियों के लिये सुलभ अष्टांग मार्ग को व्याख्या करके बताया ॥ ९ ॥

तच्छ्रुत्वा तु सुभद्रोऽसौ सम्यग्विकसितेक्षणः ।
पथि भ्रष्टो वणिग् दैवाल्लब्धग्राम इवाभवत् ॥ १० ॥

यह सुनकर वह सुभद्र, जिसकी ज्ञान दृष्टि सम्यग् रूप से विकसित हो गई है, ऐसा सुखी हुआ जैसे पथभ्रष्ट (मार्ग भटका हुआ) वणिक् दैवयोग से गाँव पहुँच जाने पर सुखी होता है ॥ १० ॥

न स श्रेयस्करो मार्गो यमाश्रित्य गतोऽभवम् ।
इत्यालोच्य सुभद्रोऽसौ पूर्वमार्गं जहौ द्रुतम् ॥ ११ ॥

"वह श्रेयस्कर मार्ग नहीं है जिसका आश्रय लेकर मैं अभी तक चल रहा था—" ऐसा विवेचन करके उस सुभद्र ने पूर्व मार्ग को तत्काल त्याग दिया ॥ ११ ॥

तस्मिन् रजस्तमोयुक्तं कर्म संचीयते ततः ।
रजसा सत्त्वयुक्तेन कुशलं कर्म वर्धते ॥ १२ ॥

"उस मार्ग में रज और तम से युक्त कम संचित होता है; अतः सत्त्व युक्त रज से कुशल कर्म बढ़ता है ॥ १२ ॥

तच्च बुद्धिप्रयत्नाभ्यां विद्यया च विवर्धितम् ।
सत्यं जनयति व्यक्तं ततः कर्मफलक्षयः ॥ १३ ॥

बुद्धि, प्रयत्न और विद्या से बढ़ा हुआ वह कर्म सत्य को उत्पन्न करता है । तब स्पष्ट रूप से कर्मफल का क्षय होता है ॥ १३ ॥

इति नैवोचितं भाति कथं कर्म विलीयते।
गुणानामस्ति नित्यत्वं तेषां नाशो न संभवेत्॥ १४॥

यह उनका विचार उचित प्रतीत नहीं होता। भला कर्म विलीन कैसे होता है? क्योंकि गुण नित्य हैं उनका नाश संभव नहीं है॥ १४॥

कदाचित्कस्यचित्कर्म निवर्त्तेत प्रयत्नतः।
तथापि कालयोगात्तु पुनश्चयनसम्भवः॥ १५॥

कदाचित् प्रयत्न करने से किसी का कर्म निवृत्त भी हो जावे तथापि काल योग से उसका पुनः संचय सम्भव है॥ १५॥

नित्यत्वाद्धि च सत्त्वस्य वृद्धिस्तस्य कथं भवेत्।
अतो न कर्मणो नाशस्तस्माच्छान्तिर्न नैष्ठिकी॥ १६॥

क्योंकि सत्त्व नित्य है। उस नित्य सत्त्व की वृद्धि कैसे हो सकती है! अतः कर्म का नाश नहीं हो सकता। इसलिये नैष्ठिक शांति भी नहीं मिल सकती॥१६॥

स्वभावाज्जन्म जन्तूनामिति तस्मिन् मते मतम्।
कथं मुक्तिर्भवेत्तत्र स्वभावो दुरतिक्रमः॥ १७॥

उस मत में प्राणियों का जन्म स्वभाव से माना गया है और स्वभाव अपरिवर्त्ती (अपरिवर्तनशील) है। तो उसमें मुक्ति कैसे हो सकती है॥ १७॥

इच्छा हि जगतो मूलमिति बौद्धमतं शुभम्।
इच्छानाशे जगन्नाशो हेत्वभावे न कार्यता॥ १८॥

'जगत् का मूल कारण इच्छा है—'यह मत ही उत्तम मत है। इच्छा के नाश से जगत् का नाश होता है। कारण के अभाव में कार्य का अभाव होता है॥ १८॥

न नित्यः कश्चिदात्मास्ति देहादन्यः सुनिश्चितम्।
नात्मनः परिणामश्च विश्वमेतदनीश्वरम्॥ १९॥

'देह के अतिरिक्त कोई नित्य आत्मा नहीं है'—यह निश्चित सिद्धान्त है तथा यह जगत् आत्मा का परिणाम नहीं है और निरीश्वर (ईश्वररहित) है॥ १९॥

अनेकेषाञ्च धर्माणां पारस्परिकमिश्रणात्।
जनिर्भवति जंतूनामिति बौद्धमतं मतम्॥ २०॥

'अनेक धर्मों के सम्मिश्रण से प्राणियों का जन्म होता है' यही मत बौद्ध मत है॥ २०॥

नित्यं परिणमत्येतद्विश्वं शश्वत्स्वरूपतः ।
अतो न प्रलयो ह्यस्य चापि नो नित्यता भवेत् ॥ २१ ॥

यह शश्वत् (सनातन) यह विश्व स्वरूप से ही निरन्तर परिणामयुक्त होता रहता है अतः इसका प्रलय नहीं होता और नित्यता भी नहीं है ॥ २१ ॥

इति बुद्धमतं ज्ञात्वा समालोड्य च तर्कतः ।
जहौ पूर्वमतं विप्रो जग्राह मतमुत्तमम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार वह विप्र बुद्ध-मत को जानकर और तर्क से उसका मंथन करके पूर्व मत का परित्याग किया तथा उत्तम बौद्ध मत स्वीकार किया ॥ २२ ॥

उत्तमं धर्ममासाद्य मग्नः सुखनिधाविव ।
शयानं मुनिमालोक्य कृतज्ञ इदमब्रवीत् ॥ २३ ॥

सर्वोत्तम धर्म को प्राप्त करके मानों वह सुख-समुद्र में निमग्न हो गया । तब सोते हुए मुनि की ओर देखकर कृतज्ञता इस प्रकार बोला ॥ २३ ॥

नोचितं गुरुवर्यस्य पूज्यस्य मृतिदर्शनम् ।
अतो देहं विसृज्य प्राग् यामि निर्वाणमच्युतम् ॥ २४ ॥

"पूज्य गुरुवर्य का मृत्यु दर्शन हमारे लिये उचित नहीं, अतः इसके पहिले ही अपना देह छोड़कर (मैं) उत्तम निर्वाण प्राप्त करूँगा ॥ २४ ॥

ततो मुनिं प्रणम्यासौ मौनी शैलवदास्थितः ।
क्षणान्निर्वाणमालेभे वाताहतप्रदीपवत् ॥ २५ ॥

तब उसने मुनि को प्रणाम करके शैल की तरह स्थिर और मौन होकर, एक क्षण में ही, वायु-प्रताडित दीपक की भाँति निर्वाण को प्राप्त कर लिया ॥ २५ ॥

संस्कारज्ञो मुनिस्तस्य दिशन् संस्कारमन्तिमम् ।
आहोत्तमश्च शिष्यो मे ह्यन्तिमोऽन्तं ययाविति ॥ २६ ॥

संस्कार के ज्ञाता मुनि ने उसका (सुभद्र का) अन्तिम संस्कार करने का आदेश दिया और कहा—"हमारा यह उत्तम और अन्तिम शिष्य अन्त को प्राप्त हुआ ॥ २६ ॥"

अर्धरात्रे व्यतीते तु विस्तृते शशिनः करे ।
नीरवोपवने शिष्यानादिदेश विनायकः ॥ २७ ॥

आधी रात वीतने पर जब चन्द्रमा की चाँदनी का विस्तार हुआ और वन प्रदेश नीरव हो गया तब विनायक ने शिष्यों को आदेश दिया ॥ २७ ॥

प्रतिमोक्षं हि युष्माकमाचार्यो भवतु ध्रुवम् ।
प्रदीप उपदेष्टा च परं पारं गते मयि ॥ २८ ॥

"मेरे निर्वाण के बाद यह प्रतिमोक्ष (ग्रन्थ विशेष) आप लोगों का एक मात्र निश्चित आचार्य, प्रदीप एवं उपदेष्टा होवे ॥ २८ ॥

वर्तितव्यं तदधीनमाचरितव्यमाज्ञया ।
मद्गतेऽपि च कर्त्तव्यः स्वाध्यायस्तु यथाऽधुना ॥ २९ ॥

आप लोगों को उसी के अधीन बरतना चाहिये और उसकी आज्ञा से आचरण करना चाहिये। हमारे निर्वाण के बाद भी इसका स्वाध्याय उसी तरह करना जैसे आज करते हो ॥ २९ ।

हेयां तु लौकिकीं वृत्तिं मनोवाक्कायशुद्धये ।
त्यजन्तु कोषभूग्राहं तप्ताय इव दाहकम् ॥ ३० ॥

मन वाणी और शरीर की शुद्धि के लिये लौकिक वृत्ति का त्याग कर दें। कोष (खजाना) और भूमि का संग्रह, तपे हुए लोहे की तरह दाहक समझकर त्याग करें ॥ ३० ॥

छेदनं भूमिजानां च कर्षणं खननं भुवः ।
विक्रयणं रसादीनां वृत्तिस्ते नोचिता भवेत् ॥ ३१ ॥

भूमिज (पौधे वृक्षादि) का छेदन, भूमि को जोतना-खोदना तथा रसादि पदार्थों का विक्रय, आप लोगों के लिये उचित वृत्ति नहीं होगी ॥ ३१ ॥

मध्यस्थता च चातुर्यं मन्त्रस्तन्त्रश्च धूर्त्तता ।
कौटिल्यं सिद्धयश्चैव सर्वं चैतद्धि, दुःखदम् ॥ ३२ ॥

मध्यस्थता करना, चतुराई, मंत्र, तंत्र, धूर्तता, कुटिलता तथा सिद्धियाँ—ये सब दुःखदायी हैं अतः (इन्हें) त्यागना चाहिये ॥ ३२ ॥

सारं शीलस्य मुक्तेश्च मूलं ज्ञानसमाधिजम् ।
प्रातिमोक्षमिदं चास्ति ह्यन्तिमोद्देश्यवाहकम् ॥ ३३ ॥

यह प्रातिमोक्ष शील का सार, मुक्ति का मूल एवं समाधिजन्य ज्ञान है तथा अन्तिम उद्देश्यवाहक है ॥ ३३ ॥

शीलमेव परं ज्ञानं शीलमेव परं तपः ।
शीलमेव परो धर्मः शीलान्मोक्षश्च नैष्ठिकः ॥ ३४ ॥

शील ही परम ज्ञान है। शील ही परम मोक्ष है शील ही परम धर्म है। शील से नैष्ठिक मोक्ष मिलता है ॥ ३४ ॥

यष्ट्या रुन्धन्ति गा गोपा धान्यादिभ्यो यथा तथा।
षडिन्द्रियाणि शीलेन विषयेभ्यो निवारय ॥ ३५ ॥

जिस तरह गोप डण्डे द्वारा गायों को धान्य आदि (खाने) से रोकता है, उसी तरह शील के द्वारा छः इन्द्रियों को विषयों से रोको ॥ ३५ ॥

यस्येन्द्रियाण्यवश्यानि सन्मार्गं लभते न सः।
विपद्ग्रस्तः सदैवासौ कदश्वारोहिणो यथा ॥ ३६ ॥

जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं वह सन्मार्ग को नहीं पाता और विपत्ति में सदैव उसी तरह ग्रस्त रहता है जिस तरह उद्दण्ड घोड़े का सवार ॥ ३६ ॥

केवलं दुःखमत्रैव लभन्ते शत्रुभिर्दृढैः।
इहामुत्र च सर्वत्र भोगशत्रुवशाज्जनाः ॥ ३७ ॥

प्रवल शत्रुओं से केवल इसी लोक में दुःख प्राप्त होता है, किन्तु भोग रूप शत्रु के वश में होकर लोग इस लोक और परलोक दोनों में दुःख पाते हैं ॥३७॥

अतो न वशमागच्छेदिन्द्रियाणां सदा वशी।
भोगिनो वशमायान्ति घातुकानां मृगा इव ॥ ३८ ॥

इसलिये सभी को चाहिये कि सदा जितेन्द्रिय हो कभी भी इन्द्रियों के वश में न होवें। भोगाभिलाषी उसी तरह इन्द्रियों के वश में होते हैं जिस प्रकार मृग, बहेलियों के पाश में पड़ जाते हैं ॥ ३८ ॥

सर्पसिंहाग्निशस्त्रेभ्यो विदुषां न तथा भयम्।
यथा विषयदिग्धेभ्य इन्द्रियेभ्यः प्रजायते ॥ ३९ ॥

विद्वानों को सर्प, सिंह, अग्नि एवं शस्त्रों से इतना भय नहीं होता जितना कि विषयलिप्त इन्द्रियों से होता है ॥ ३९ ॥

सेनाङ्गानां यथाध्यक्ष इन्द्रियाणां तथा मनः।
तस्मिञ्जिते तु सर्वाणि चाक्षाणि विजितानि वै ॥ ४० ॥

जैसे सेना का एक अध्यक्ष (सेनापति) होता है, इसी तरह मन, इन्द्रियों का अध्यक्ष है। उस मन को जीत लेने पर सब इन्द्रियाँ विजित हो जाती हैं ॥ ४० ॥

मर्कटा इव सर्वेषां मनो नैसर्गिकं चलम्।
युक्त्या भक्त्या च शक्त्या तत्साधयेत्सततं सुधीः ॥४१॥

सबका मन बानर की तरह स्वभाव से चंचल है। विद्वान् को चाहिये कि युक्ति, भक्ति और शक्ति से सदा उसको वश में करे ॥ ४१ ॥

रागद्वेषवियुक्तः सन् मात्रावच्चौषधस्य वै।
क्षुच्छान्तये हरेदन्नं शरीरस्थितयेऽथवा ।। ४२ ।।

राग-द्वेष से वियुक्त होकर औषधि की मात्रा की तरह क्षुधा की निवृत्ति के लिये अथवा शरीर की स्थिति (धारण) के लिये अन्न खाना चाहिये ।। ४२ ।।

भ्रमरो रसदमात्ते भिन्ते छिन्ते न कर्हिचित् ।
तथा न पीडयेत्कञ्चिद् वृत्ति मात्रामिवार्जयन् ।। ४३ ।।

जिस तरह भौंरा फूलों का रस लेता है किन्तु फूलों का छेदन-भेदन नहीं करता है। उसी तरह मात्रावत् (औषधिवत्) वृत्ति-भोजन प्राप्त करते हुए किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाना चाहिये ।। ४३ ।।

संग्रहो नातिकर्तव्यो दुःखभागन्यथा भवेत् ।
उद्वास्यन्ते द्विरेफा हि लुब्धकैर्मधुसंग्रहात् ।। ४४ ।।

अधिक संग्रह नहीं करना चाहिये अन्यथा दुःख का भागी होना पड़ता है। मधु संग्रह करने के कारण मधुमक्खी बहेलियों द्वारा उड़ा दी जाती है ।। ४४ ।।

जागरूको दिवरात्रं योगाचारं समभ्यसेत् ।
नातिस्वपन्न जाग्रच्च हितं लोकस्य चिन्तयेत् ।। ४५ ।।

दिन-रात जागरूक रहकर योग आचरण का अभ्यास करना चाहिये अधिक स्वप्न एवं अधिक जागरण न करता हुआ संसार का हित-चिन्तन करना चाहिये ।। ४५ ।।

दह्यमानेषु लोकेषु द्रुतं कालाग्निना भृशम् ।
दोषशत्रुषु जाग्रत्सु कः स्वप्यात्सुखनिद्रया ।। ४६ ।।

कालरूपी अग्नि से बड़ी तेजी के साथ संसार में अत्यन्त जलते रहने पर तथा दोषरूपी शत्रु के जागते रहने पर कौन सुख की निद्रा से सो सकता है ।। ४६ ।।

यथा च मन्त्रतन्त्राभ्यां फणी गेहान्निरस्यते ।
तथा ज्ञानेन निर्वास्य दोषान्स्वपिहि नान्यथा ।। ४७ ।।

जिस तरह मंत्र-तंत्र के द्वारा काला सर्प घर से निकाल दिया जाता है उसी तरह ज्ञान के द्वारा दोषों को निकाल कर तुम लोग सोओ। बिना दोष निकाले नहीं सोना चाहिये ।। ४७ ।।

कामस्यावरणं लज्जा तथा शीलस्य भूषणम् ।
अङ्कुशो दोषनागानां लज्जावाँस्तु भवेदतः ।। ४८ ।।

लज्जा काम का आवरण तथा शील का भूषण है एवं दोष का अंकुश है। अतः लज्जावान होना चाहिये ॥ ४८ ॥

लज्जावान् पूज्यते लोकैर्बुधैराद्रियते सदा।
हिताहितानभिज्ञस्तु निर्लज्जः पशुभिः समः ॥ ४९ ॥

लज्जावान मनुष्य संसार में पूजा जाता है एवं विद्वानों से आदर पाता है; किन्तु हित तथा अहित को नहीं जानने वाला (अनभिज्ञ) निर्लेप प्राणी पशु के समान है ॥ ४९ ॥

घ्नन्तं चापि दृढं शत्रुं प्रतिहन्यान्न कर्हिचित्।
नालपेद्दुर्वचश्चापि प्रतिघातोऽयमुत्तमः ॥ ५० ॥

बलवान शत्रु यदि आघात भी कर रहा है तिस पर भी कभी प्रतिघात (बदले में मारना) नहीं करना चाहिये तथा दुर्वचन भी नहीं कहना चाहिये। यह उत्तम प्रतिघात (बदले की भावना) है ॥ ५० ॥

क्षमा हि परमा शक्तिः क्षमा हि परमं तपः।
धर्मस्य च क्षमा मूलं न हितं क्षमया समम् ॥ ५१ ॥

क्षमा ही परम शक्ति है, क्षमा ही परम तप है एवं क्षमा ही धर्म का मूल है। क्षमा के समान दूसरा हित (मित्र) नहीं ॥ ५१ ॥

धर्मं यशश्च रूपञ्च गुणाञ्ज्ञानं च वैभवम्।
सर्वं नाशयति क्रोधो नास्ति क्रोधसमो रिपुः ॥५२॥

धर्म, यश, रूप, गुण, ज्ञान एवं वैभव—इन सबको क्रोध नष्ट कर देता है। अतः क्रोध के समान दूसरा शत्रु नहीं ॥ ५२ ॥

प्रतिकूलं यतीनां स हिमानां पावको यथा।
अनुकूलं गृहस्थानां विषवद्विषजीविनाम् ॥ ५३ ॥

क्रोध यतियों के लिये प्रतिकूल है जिस प्रकार हिम का प्रतिकूल अग्नि; किन्तु वही गृहस्थों के लिये अनुकूल है, जिस प्रकार विषजीवियों के लिये विष (अनुकूल होता है) ॥ ५३ ॥

उदियाद्धृदि युष्माकमभिमानो यदा क्वचित्।
तदा पश्यन्तु काषायं शिरः स्वस्य कमण्डलुम् ॥ ५४ ॥

जब कभी आप लोगों के हृदय में अभिमान का उदय हो, तब आप लोग अपना काषाय वस्त्र, मुण्डित सिर तथा कमण्डलु देखें ॥ ५४ ॥

अभिमानविनाशाय यतन्ते गृहिणोऽपि वै।
किं पुनर्मुण्डिता भिक्षामश्नन्तो दीक्षिताश्च ये ॥ ५५ ॥

जब कि गृहस्थ भी अभिमान का नाश करने के लिये प्रयत्न करते हैं; तब दीक्षित हैं, मुण्डित हैं तथा भिक्षा का अन्न खाते हैं, उनके विषय में क्या कहना है ? ॥ ५५ ॥

छलं धर्मश्च द्वावेतौ परस्परमसंगतौ।
छलं लोकच्छलायैव धर्मो लोकहिताय हि ॥ ५६ ॥

छल और धर्म ये दोनों परस्पर असंगत (विरुद्ध) हैं। छल संसार को छलने के लिये तथा धर्म संसार के हित के लिये है ॥ ५६ ॥

यद्दुखं विविधेच्छस्य निरीहस्य न तत्तथा।
निरिच्छायै च कर्त्तव्यः सदाभ्यासो गुणार्थिभिः ॥ ५७ ॥

विविध इच्छा वालों को जो दुःख होता है, वह इच्छारहित को नहीं होता है अतः गुणग्राही को सदा निरिच्छा का अभ्यास करना चाहिये ॥ ५७ ॥

आढ्यान् क्षुभ्यति नो पश्यन् कृपणाँश्च न ताम्यति।
इच्छा यस्य वशीभूता मोक्षस्तस्य करे स्थितः ॥ ५८ ॥

धनिकों को देखकर जो क्षुब्ध नहीं होता तथा कृपणों (गरीबों) को देख कर धन नहीं चाहता, इच्छा जिसके वश में हो गई है, मोक्ष उसके हाथ में स्थित है ॥ ५८ ॥

सुखमिच्छसि पूर्णं चेत्संतोषमवलम्बताम्।
भूमावपि सुखं शेते तुष्टो नान्यस्त्रिविष्टपे ॥ ५९ ॥

यदि पूर्ण सुख चाहते हो तो संतोष का अवलम्ब लो। सन्तोषी पृथ्वी पर भी सुख से सोता है, (किन्तु) अन्य (असंतोषी) स्वर्ग में भी सुख नहीं पाता है ॥ ५९ ॥

प्रभूतेऽपि धनेऽतुष्टो दरिद्रः सोऽस्ति शाश्वतम्।
रिक्तेऽपि च धने तुष्टो धनिकः सोऽस्ति शाश्वतम् ॥ ६० ॥

असंतोषी बहुत धन होने पर भी सदा दरिद्र ही रहता है। संतोषी निर्धन होने पर भी सदा धनवान रहता है ॥ ६० ॥

न प्रसज्जेत्सुखे धीमाञ्छान्तिमिच्छन् परां नरः।
ईर्ष्यन्ति सुखिनो दृष्ट्वाऽपीन्द्राद्याः सुखमीप्सवः ॥ ६१ ॥

परम शान्ति चाहने वाले बुद्धिमान मनुष्य को सुख में आसक्त नहीं होना

चाहिये। सुखियों को देखकर सुख चाहने वाले इन्द्रादि देवता भी ईर्ष्या (वैर) करते हैं ॥ ६१ ॥

आसक्तिर्दुःखवृक्षस्य मूलं तां तु परित्यजेत् ।
सक्तो निबध्यते लोके यथा पङ्के जरी गजः ॥ ६२ ॥

आसक्ति दुःखरूपी वृक्ष का मूल है, अतः उसका परित्याग कर देना चाहिये। आसक्त पुरुष संसार में उसी तरह फँसता है जैसे बूढ़ा हाथी कीचड़ में (फँसता) है ॥ ६२ ॥

दुर्लभान्यपि कार्याणि सिद्ध्यन्ति प्रोद्यमेन वै ।
शिलापि तनुतां याति प्रपातेनार्णसो मुहुः ॥ ६३ ॥

दुर्लभ कार्य भी विशेष उद्यम से सिद्ध होते हैं। जल के बारम्बार प्रपात से शिला भी पतली पड़ जाती है ॥ ६३ ॥

अरणीमन्थने जातु यो विरन्तुं न चेष्टते ।
स एव लभते वह्निमेवं सिद्धेरपि प्रथा ॥ ६४ ॥

अरणी-मन्थन में जो कभी विश्राम नहीं लेता, वही अग्नि प्राप्त करता है। सिद्धि प्राप्ति की भी यही रीति है ॥ ६४ ॥

स्मृतिः शरीरिणां मित्रं सततं स्मृतिमान् भव ।
तस्यां सत्यां हि दोषाणां प्रादुर्भावो न चेतसि ॥ ६५ ॥

स्मृति देहधारी का मित्र है अतः तुम सदा स्मृतिवान् बनो। स्मृति रहते चित्त में दोष का प्रादुर्भाव नहीं होता ॥ ६५ ॥

यतीनां यतचित्तानां स्मृतिस्तु कवचं दृढम् ।
मत्ताः शूरा इवाजौ ते युध्यन्ते विषयारिभिः ॥ ६६ ॥

स्मृति जितेन्द्रिय यतियों का दृढ कवच है। उसको पहिनकर वे विषयरूपी शत्रुओं से उसी तरह लड़ते हैं जैसे मत्त वीर युद्ध में ॥ ६६ ॥

येषां समाधिना चित्तं निरुद्धं भावसंस्कृतम् ।
मनःसमाधिसिद्धानां तेषां चेतसि नाधयः ॥ ६७ ॥

जिनका चित्त समाधि से निरुद्ध एवं भाव से संशुद्ध हो गया है ऐसे मनः- (मानसिक) समाधि से सिद्ध पुरुषों के मन में मानसिक दुःख नहीं होता है ॥ ६७ ॥

यथा दृढेन बन्धेन प्रवाहः सन्निरुध्यते ।
तथा समाधिना चित्तं शुध्यते च निरुध्यते ॥ ६८ ॥

जिस तरह दृढ़ (पक्का) बाँध से प्रवाह को रोका जाता है उसी तरह समाधि के द्वारा चित्त को रोका तथा शोधा जाता है ।। ६८ ।।

धनिकानां यथा त्राणं धनधर्मजनालयैः ।
यतीनां तु तथा त्राणं केवलेन समाधिना ।। ६९ ।।

जिस प्रकार धनिकों की रक्षा धन, धर्म, जन और गृह से होती है; उसी प्रकार यतियों की रक्षा केवल समाधि से हो जाती है ।। ६९ ।।

प्रज्ञा दीपो भ्रमध्वान्ते व्याधीनामौषधं परम् ।
प्लवो जन्मजरासिन्धौ शस्त्रं दोषतरोः स्मृतम् ।। ७० ।।

प्रज्ञा (ज्ञान), भ्रम रूप अंधकार में दीपक तथा व्याधियों की परम औषधि है और जन्म-जरावस्था रूप समुद्र में नौका एवं दोष रूप वृक्ष का शस्त्र कहा गया है ।। ७० ।।

ज्ञानेन विद्यया चैव प्रज्ञां शश्वद्विवर्धयेत् ।
यस्य प्रज्ञामयं चक्षुश्चक्षुष्मान् स नरः स्मृतः ।। ७१ ।।

ज्ञान और विद्या के द्वारा प्रज्ञा को निरन्तर बढ़ाना चाहिये । जिसकी प्रज्ञामय चक्षु है वही मनुष्य चक्षुष्मान् कहा गया है ।। ७१ ।।

त्यक्तालयोऽपि चित्तस्य व्यापारं न रुरोध यः ।
नाशितोभयलोकस्य तस्य त्राणं कथं भवेत् ।। ७२ ।।

जिसने घर का त्याग कर दिया है किन्तु चित्त के व्यापार का निरोध नहीं किया उसने दोनों लोकों को नष्ट कर लिया । उसका त्राण कैसे हो सकता है ? ।।७२।।

उद्यमो मित्रवद् ग्राह्यः प्रमादं शत्रुवत्त्यजेत् ।
उद्यमेन परा सिद्धिः प्रमादेन क्षयो भवेत् ।। ७३ ।।

उद्योग को मित्र की तरह ग्रहण करना चाहिये । प्रमाद को शत्रु की तरह त्यागना चाहिये । उद्यम से परम सिद्धि मिलती है (तथा) प्रमाद से क्षय होता है ।। ७३ ।।

यत्कर्त्तव्यं गुरोरत्र दयालोस्तन्मया कृतम् ।
अतः परं भवद्भिर्हि कर्त्तव्यं साधनं महत् ।। ७४ ।।

दयालु गुरु का जो कर्त्तव्य है वह मैंने यहाँ पर पालन किया । इसके आगे आप लोगों को महान् साधन करना चाहिये ।। ७४ ।।

आचरन्तु निजं धर्मं मा भवन्तु प्रमादिनः ।
विहारे पर्वतेऽरण्ये यत्र कुत्र वसन्तु वा ।। ७५ ।।

बिहार में, पर्वत पर, वन में जहाँ कहीं भी आप रहें, अपने धर्म का आचरण करें, प्रमादी न बनें ॥ ७५ ॥

औषधस्य प्रदातेव वैद्यो ज्ञातबलाबलः ।
संयमेन च काले च वशे पानं तु रोगिणाम् ॥ ७६ ॥

वैद्य रोगी का बलाबल विचार कर केवल औषधि का प्रदाता होता है। उस औषधि को संयम से तथा समय पर खाना रोगी के अधिकार की बात है ॥ ७६ ॥

निर्दिष्टोऽपि हि सन्मार्गे पान्थो गच्छन् कदध्वनि।
विनश्येच्चेत्तु निर्देष्टुर्न दोषो नाधमार्णता ॥ ७७ ॥

सही मार्ग बता देने पर भी, पथिक यदि खराब मार्ग पर जाते हुए नष्ट हो जावे तो मार्ग बताने वाले का कोई दोष नहीं और न (वह) कर्जदार है ॥ ७७ ॥

आस्ते चतुर्षु सत्येषु दुःखादिषु क्वचिद्भ्रमो ।
भवत्सु कस्यचित्कश्चित्प्रष्टव्यः स निराकुलम् ॥ ७८ ॥

यदि मेरे बताये हुए दुःखादि चार आर्य सत्यों में आप लोगों में किसी को भी, कुछ भी (तथा) कहीं भी भ्रम हो तो निस्सन्देह पूछो ॥ ७८ ॥"

उक्तेऽप्येवं मुनौ शान्ता नोचुः किञ्चिद्गतभ्रमाः ।
अनिरुद्धस्तदा तेषां मनो ज्ञात्वेदमब्रवीत् ॥ ७९ ॥

मुनि के इस प्रकार कहने पर सब मौन एवं शान्त रहे। सब भ्रमरहित थे। किसी ने कुछ नहीं कहा। तब उनके मनोभाव जानकर अनिरुद्ध ने इस प्रकार कहा—॥ ७९ ॥

स्यात्स्वेदेत रविः स्थेयाद्वायुश्चापि तपेच्छशी ।
मिथ्या सत्यचतुष्कं तु कश्चित्कर्तुं च नार्हति ॥ ८० ॥

चाहे सूर्य स्वेदयुक्त हो जावे, हवा की गति रुक जावे, और चन्द्र गर्म हो जावे किन्तु इन चार सत्यों को कोई मिथ्या नहीं कर सकता ॥ ८० ॥

यद्दुःखं तत्सुखं नास्ति दुःखं दुःखस्य कारणम् ।
दुःखहाने ध्रुवा मुक्तिर्निरोधो हानकारणम् ॥ ८१ ॥

जो दुःख है वह सुख नहीं। दुःख का कारण दुःख है। दुःख के नाश होने पर मुक्ति ध्रुव है। निरोध, दुःख नाश का हेतु है ॥ ८१ ॥

अतः सुगत सत्येषु न केषांचिदपि भ्रमः ।
योऽद्याप्यलब्धलक्ष्योऽसौ मुनिर्यातीति दूयते ॥ ८२ ॥

अतः हे सुगत ! सत्यों में किसी का कोई भ्रम नहीं है। जो आज अभी भी लक्ष्य प्राप्त नहीं किये हैं वे 'मुनि निर्वाण को जा रहे हैं'—ऐसा सोचकर दुःखी होते हैं॥ ८२॥

योऽत्र नूतनदीक्षित्वान्नाप्तलक्ष्योऽपि सोऽपि च।
त्वद्वाक्येनाप्तलक्ष्यो हि विद्युता द्रव्यलाभवत्॥ ८३॥

जो अभी यहाँ नवीन दीक्षित हुए हैं, जिन्होंने अभी लक्ष्य प्राप्त नहीं किया है, वे भी तुम्हारे वचन से तत्काल उसी प्रकार लक्ष्य को प्राप्त कर लिये जिस प्रकार विजली की चमक में वस्तु दिख जाती है॥ ८३॥

यश्चाशेषितकर्त्तव्यः परं पारं गतोऽपि च।
सोऽपि युष्मद्वियोगस्य दुःखादत्यन्तकातरः॥ ८४॥

जो अपने अशेष कर्त्तव्यों को निःशेष रूप से समाप्त कर चुके हैं और परम पद को जा चुके हैं तिस पर भी वे आपके सदा वियोग में दुःख से अत्यन्त कातर हैं॥ ८४॥

इत्थमार्यानिरुद्धस्य निशम्य सुगतो वचः।
तत्त्वज्ञः शिष्यचेतांसि द्रढयन् दृढमब्रवीत्॥ ८५॥

इस प्रकार आर्य अनिरुद्ध का वचन सुनकर तत्त्वज्ञ सुगत उनकी वात को दृढ़ करते हुए दृढ़तापूर्वक बोले॥ ८५॥

ध्रुवो मृत्युर्हि सर्वेषां युगान्तस्थायिनामपि।
संयोगश्च वियोगश्च न नित्यौ प्राणिनां क्वचित्॥ ८६॥

हे अनिरुद्ध ! सव प्राणियों की मृत्यु निश्चित है, चाहे युग पर्यन्त आयु वाले क्यों न हों तथा प्राणियों का संयोग एवं वियोग कभी नित्य नहीं है॥ ८६॥

समापितं मया कृत्यं स्वस्यापि च परस्य च।
अतोऽधिकाद्धि लोकस्य को लाभो मम जीवनात्॥ ८७॥

मैंने अपना तथा दूसरों का भी सव कार्य समाप्त कर दिया है। अब मेरे अधिक जीने से संसार का क्या लाभ ?॥ ८७॥

य आसन् दीक्षितव्या हि स्वर्गे लोके च वै पुनः।
ते सर्वे दीक्षिताः सम्यगानीताः सरणिं मया॥ ८८॥

स्वर्ग तथा लोक में जो दीक्षा के योग्य थे; वे सव दीक्षित हो चुके तथा मैंने सबको धर्म मार्ग में पहुँचा दिया है॥ ८८॥

धर्मोऽयं मम तैरेव जनेषु प्रचलिष्यति ।
धर्मेणानेन लोकेऽस्मिञ्छश्वच्छान्तिर्भविष्यति ।। ८९ ।।

इन्हीं के द्वारा मेरा यह धर्म जनता में प्रचलित होगा । इस धर्म से इस संसार में स्थाई शान्ति होगी ।। ८९ ।।

विदित्वा जगतो भावं जहि शोकं तमोभवम् ।
तथा यतस्व नित्यं त्वं यथा नायं पुनर्भवः ।। ९० ।।

जगत् का भाव जानकर तम से उत्पन्न शोक को त्यागो और तुम ऐसा प्रयत्न करो कि जिससे पुनर्जन्म न होवे ।। ९० ।।

भवस्य सारशून्यत्वं यदा ज्ञानेन दृश्यते ।
मृतोत्थितस्य सादृश्यं तदा सौख्यं प्रजायते ।। ९१ ।।

जब 'संसार सारशून्य है—' ऐसा ज्ञान के द्वारा दिखने लगता है, तब मर कर पुनः जीवित होने की तरह उसे सुख होता है ।। ९१ ।।

भवद्वन्द्वस्य मूलं हि दुःखवेश्म कलेवरम् ।
तस्मिन्नष्टे न कस्य स्यात्सुखमात्यन्तिकं भवे ।। ९२ ।।

यह शरीर दुःख का आलय; भवद्वन्द्व (प्रपंच) का मूल है । इसके नष्ट होने पर, संसार में किसको आत्यन्तिक सुख नहीं होगा ? ।। ९२ ।।

सर्वं नश्यति काले हि मम कालोऽयमागतः ।
जागर्यास्त्वं शुचं त्यक्त्वा ममेदं चान्तिमं वचः ।। ९३ ।।

सब कुछ काल आने पर नष्ट होता है । मेरा यह काल आ गया है । तुम शोक त्याग कर जागरूक रहो । मेरा यह अन्तिम वचन है ।। ९३ ।।

ततोऽसौ प्रथमे ध्याने प्रविष्टो ध्यानवान्मुनिः ।
द्वितीये च तृतीये चान्तिममेकैकशो ययौ ।। ९४ ।।

तब उस ध्यानवान मुनि ने प्रथम ध्यान में प्रवेश किया, उसके बाद द्वितीय में, पुनः तुतीय में; इस तरह एक एक करके अन्तिम ध्यान में प्रवेश किया ।। ९४ ।।

ध्यानेभ्यश्च क्रमादूर्ध्वं वै न वसु समाधिषु ।
गच्छन्पुनः क्रमान्निम्नं प्रथमं ध्यानमाययौ ।। ९५ ।।

ध्यानों से क्रमशः ऊपर नौ समाधियों में जाते हुए फिर क्रमशः नीचे की ओर आकर मुनि प्रथम ध्यान में आये ।। ९५ ।।

पुनस्ततोऽपि निर्गम्य चतुर्थं ध्यानमभ्यगात् ।
चतुर्थात्पुनरागम्य शश्वच्छान्तिमगाज्जिनः ।। ९६ ।।

तब फिर उससे भी निकल कर चतुर्थ ध्यान में गये। फिर चतुर्थ ध्यान से आकर (वे) जिन सदा के लिये शान्त हो गये॥ ९६॥

चचाल वसुधा वेगान्महावाताहतेव नौः।
निपेतुरभितश्चोल्का मुनित्यक्ते कलेवरे॥ ९७॥

उस दिन जब मुनि ने शरीर छोड़ा, उस समय महावायु से आहत नौका सदृश पृथ्वी बड़े वेग से काँपने लगी और चारों ओर उल्कापात होने लगे॥ ९७॥

निर्वातेऽपि च निर्धूमो जज्वालाग्निर्निरिन्धनः।
दिव्यं चैत्रवनं दग्धुं दिवि दाव इवोत्थितः॥ ९८॥

हवा के रुक जाने पर भी लकड़ी के बिना (ही) अग्नि धुआँ रहित जलने लगी, मानों दिव्य चैत्रवन को जलाने के लिये, स्वर्ग में दावानल की ज्वाला उठी हो॥ ९८॥

निपेतुर्भीषणा वज्राः वमन्तः शतशोऽर्चिषम्।
क्रुद्धेन दानवाञ्जेतुं मघोना पातिता इव॥ ९९॥

आकाश से शतशः ज्वालाओं को उगलते हुए भीषण वज्रपात होने लगे; मानों क्रोधी इन्द्र ने दानवों को जीतने के लिये (वज्र) छोड़ा हो॥ ९९॥

धूलिगर्भा ववुर्वाता उत्खनन्तो महीरुहान्।
झञ्झावाताहताः शैलाश्चिक्षिपुः शिखराणि खे॥ १००॥

वृक्षों को उखाड़ते हुए धूल मिश्रित हवा बहने लगी। झंझावात से ताड़ित पहाड़ शिखरों को आकाश में फेंकने लगे॥ १००॥

मलिनांशुः सुधांशुश्च परिवेषहतप्रभः।
शैवालमध्यगो हंसः कर्दमाक्त इवाभवत्॥ १०१॥

कीचड़ से लिप्त शैवाल के मध्य में स्थित हंस की तरह मलिन किरण वाला चन्द्रमा परिवेष से प्रभारहित हो गया॥ १०१॥

निरभ्रोऽपि सचन्द्रोऽपि ह्याकाशस्तमसावृतः।
तत्संतापेन सन्तेपुस्तोयानि सरितां तथा॥ १०२॥

मेघरहित होने पर भी चन्द्रमासहित आकाश अंधकार से ढक गया। नदियों के जल तप गये; मानों मुनि के संताप से संतप्त हो रहे हों॥ १०२॥

पुरःस्थाः शालवृक्षास्तु नम्रशाखाकरैः शुभैः।
पुष्पाण्यवाकिरँस्तस्य कोमलानि कलेवरे॥ १०३॥

सामने के शाल वृक्ष ने सुन्दर शाखारूपी हाथों से कोमल-कोमल पुष्प, मुनि के शरीर पर छोड़ा ।। १०३ ।।

दिवि पञ्चफणा नागाः शोकसंरक्तलोचनाः ।
भक्त्या तस्थुः स्थिराः शान्ताः पश्यन्तस्तं नताननाः ।। १०४ ।।

शोक से रक्तवर्णयुक्त नेत्र वाले-पाँच फण वाले नाग, भक्ति के कारण नीचे सिर करके मुनि को देखते हुए, स्थिर एवं शान्त होकर आकाश में स्थित रहे ।। १०४ ।।

वैश्रवणस्य राज्ञः सा कर्मासक्ता दिवि स्थिता ।
सभा धर्मानुरागत्वान्न शुशोच निराकुला ।। १०५ ।।

स्वर्ग में स्थित वैश्रवण (कुवेर) की उस सभा ने कर्म में आसक्त और धर्म में अनुरक्त होने के कारण निराकुल रहती हुई, शोक नहीं किया ।। १०५ ।।

कृतज्ञा देवसंघास्तु मुनिश्रद्धान्विता अपि ।
लोकस्थितिं विजानन्तः शान्ता एव न चुक्षुभुः ।। १०६ ।।

कृतज्ञ देवसमूह, मुनि के प्रति श्रद्धा होने पर भी, लोक की स्थिति को जानते हुए शान्त रहा । क्षुब्ध नहीं हुआ ।। १०६ ।।

सद्धर्मे तुष्टिमापन्ना देवा यक्षाश्च किन्नराः ।
शोकाकुलाः स्वरैरुच्चैः समेत्य रुरुदुर्भृशम् ।। १०७ ।।

संद्धर्म में सन्तोष प्राप्त करने वाले देवता, यक्ष और किन्नर, शोक से व्याकुल होते हुए वहाँ आये और उच्च स्वर से अत्यन्त क्रन्दन करने लगे ।। १०७ ।।

मारस्तु सदलस्तुष्टः कृच्छ्रात्पूर्णमनोरथः ।
साट्टहासं जगौ तारं दध्मौ शङ्खं ननर्त च ।। १०८ ।।

मार (कामदेव) अपने दलसहित सन्तुष्ट हुआ । बड़ी कठिनाई से उसका मनोरथ पूर्ण हुआ; अतः अट्टहास करता हुआ तार (उच्च) स्वर से गाने लगा, (उसने) शंख बजाया और नाचा ।। १०८ ।।

पविच्छिन्नशिखः शैलो गजः शुष्कमदस्तथा ।
भग्नशृङ्गो महोक्षो वा संसारो न बभौ तथा ।। १०९ ।।

उस समय वज्र से पंख कट जाने पर पर्वत की तरह, मद सूख जाने पर गज की तरह तथा सींग टूट जाने पर वृषभ (बैल) की तरह विश्व ने शोभा नहीं पाई (संसार शोभारहित हो गया) ।। १०९ ।।

विना विधुं व्योम यथातिनिष्प्रभं—
हिमैर्यथा नष्टसरोरुहं सरः ।
यथा च विद्या विफला विना धनं
जगत्तथाऽभून्मुनिना विना तदा ॥ ११० ॥

इति श्रीरामचन्द्रदासकृते उत्तरबुद्धचरितमहाकाव्ये
"महापरिनिर्वाणम्" नाम
षड्विंशः सर्गः

उस समय यह संसार उस मुनि के बिना ऐसा हो गया जैसे चन्द्रमा के बिना आकाश प्रभारहित हो जाता है तथा धन के बिना विद्या विफल हो जाती है ॥ ११० ॥

यह श्रीरामचन्द्रदासकृत उत्तरबुद्धचरित महाकाव्य में
"महापरिनिर्वाण" नामक छब्बीसवाँ सर्ग
समाप्त हुआ ।

अथ सप्तविंशः सर्गः

निर्वाणप्रशंसा

निर्वाण प्रशंसा

अथ देववरः कश्चिद्यानान्निःसारिताननः ।
क्षणं विलोक्य सर्वज्ञमिदमाह विचारयन् ॥ १ ॥

तब कोई देवता श्रेष्ठ, अपना मुख विमान से बाहर निकालकर उस क्षण सर्वज्ञ को देखकर, विचारते हुए इस प्रकार बोला—॥ १ ॥

अहो नश्यं जगत्सर्वं मृत्यवे ह्येव जन्म वै ।
मृत्युश्च जन्मने चैव यस्य नोभौ स भाग्यवान् ॥ २ ॥

"अहो ! यह सारा जगत् नश्वर है । (यहाँ) मृत्यु के लिये ही जन्म होता है । तथा जन्म के लिये ही मृत्यु होती है । जिसको ये दोनों (जन्म एवं मृत्यु) नहीं होते, वह भाग्यवान है ॥ २ ॥

ज्ञानज्वालो यशोज्योतिर्जन्मैधा बुद्धपावकः ।
निर्वापितोऽयं निःशेषं ध्रुवेणानेहसाम्भसा ॥ ३ ॥

ज्ञान जिसकी ज्वाला है, यश जिसकी ज्योति है तथा जन्म ही जिसकी लकड़ी है—ऐसे बुद्धरूपी अग्नि को, इस अटल कालरूपी जल ने अत्यन्त शान्त कर दिया ॥ ३ ॥

स्वर्गस्थोऽपि च तद्भोगैरनाकृष्टो दृढव्रतः ।
कश्चिन्मुनिवरश्चान्यः पश्यन्नाह तथागतम् ॥ ४ ॥

स्वर्ग में रहने पर भी उसके भोगों से आकृष्ट नहीं हुआ—ऐसा दृढव्रती कोई अन्य मुनि श्रेष्ठ, तथागत को देखते हुए बोला—॥ ४ ॥

यन्न नश्यं न तत्किञ्चिद्वर्तते भुवनत्रये ।
योऽयं लोकगुरुः साक्षात्सोऽपि कालवशं गतः ॥ ५ ॥

इन तीनों लोकों में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसका नाश नहीं होता । जो यह साक्षात्, लोक (विश्व) के गुरु हैं वे भी काल के वश में हो गये हैं ॥ ५ ॥

अन्धोऽयं जीवलोको हि तत्त्वज्ञानदिवाकरम् ।
बुबुधे न मुनिं मूढः शान्तिदूतमनुत्तमम् ॥ ६ ॥

यह जीवलोक, अन्धा एवं मूढ है जो कि तत्त्वज्ञान के सूर्य और शान्ति के दूत—उत्तम मुनि को नहीं पहिचान सका ॥ ६ ॥

अनिरुद्धो गतासक्तिरिमं लोकं मुनिं विना ।
आलोकरहितं वीक्ष्य सधैर्यमिदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

तव जिसकी आसक्ति नष्ट हो चुकी थी—वह अनिरुद्ध, मुनि के विना, इस लोक को प्रकाशरहित देखकर, धैर्यपूर्वक इस प्रकार बोला—॥ ७ ॥

अये कर्मानुगा लोका ईक्षध्वं लोकसंस्थितिम् ।
कालवज्राहतो भग्नो दृढोऽपि मुनिभूधरः ॥ ८ ॥

हे कर्म के अनुयायी लोगो ! लोक की स्थिति को देखो । कालरूपी वज्र से ताड़ित होकर यह दृढ मुनिरूपी पर्वत भग्न हो गया ॥ ८ ॥

इमं क्षणात्मकं लोकं जीवलोकं वदन्ति ह ।
हतदोषगजः सोऽपि मुनिसिंहः स्वयं मृतः ॥ ९ ॥

इस क्षणभंगुर संसार को जीवलोक कहते हैं । जिसने दोषरूपी हाथियों को नष्ट कर दिया वह मुनिरूप सिंह भी आज स्वयं नष्ट हो गया ॥ ९ ॥

कामाग्निपच्यमानेभ्यस्त्रिविधे कर्मभाजने ।
ज्ञानामृतप्रदो लीनः कोऽत्र रक्षां करिष्यति ॥ १० ॥

तीन प्रकार के कर्म (शुभ, अशुभ एवं मिश्रित) रूपी वर्त्तन में कामरूपी अग्नि से पकते रहने वालों के लिये ज्ञानरूपी अमृत देने वाले मुनि लीन हो गये। अव यहाँ कौन रक्षा करेगा ? ॥ १० ॥

एकाङ्कुरं द्विशाखञ्च षड्बीजं फलपञ्चकम् ।
बभञ्ज दोषवृक्षं यो द्विपः सोऽपि ननाश ह ॥ ११ ॥

जिसका एक अङ्कुर, दो शाखाएँ, छः वीज एवं पाँच फल हैं—ऐसे दोषरूपी वृक्ष को जिस मुनिरूपी हाथी ने उखाड़ डाला था, वह (मुनि) भी नहीं रहा ॥ ११ ॥

सम्राडिव विजित्यारीन् दग्ध्वाऽग्निरिव चेन्धनम् ।
अशेषीकृत्य दोषारीञ्जन्ममुक्तोऽभवन्मुनिः ॥ १२ ॥

शत्रुओं को जीतकर सम्राट् की तरह, एवं लकड़ी को जलाकर अग्नि की तरह, मुनि दोषरूपी शत्रुओं को समाप्त करके मुक्त हो गये ॥ १२ ॥

यथा तर्पयतीन्द्रो हि वर्षयित्वाऽमृतं जलम् ।
तथा ज्ञानामृतैः शिष्याँस्तोषयित्वा गतो मुनिः ॥ १३ ॥

जिस प्रकार इन्द्र जलवृष्टि कर तृप्त करता है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अमृत से शिष्यों को सन्तुष्ट करके मुनि चले गये ॥ १३ ॥

राजराजो हि सर्वेषां धनानामधिपो यथा ।
तपोज्ञानगुणानाञ्च तथाऽऽसीदधिपो मुनिः ॥ १४ ॥

जिस प्रकार राजाधिराज (कुबेर) सब प्रकार के धनों का अधिपति होता है; उसी प्रकार मुनि, तपस्या, ज्ञान एवं गुण के अधिपति थे ॥ १४ ॥

वनं यथा हिमाच्छन्नं मेघैः सूर्य इवावृतः ।
जगन्न भासते चाद्य तस्य शोकैः समावृतम् ॥ १५ ॥

जिस प्रकार कुहरे से ढका हुआ वन, एवं मेघ से ढका हुआ सूर्य शोभा नहीं पाता, उसी प्रकार उनके शोक से ढका हुआ संसार शोभा नहीं पाता है ॥ १५ ॥

अखिन्नः संस्तपस्तेपे भेजे धर्मसनालसः ।
अलुब्धः शिश्रिये योगममुग्धस्तनुमत्यजत् ॥ १६ ॥

उन्होंने दुःखरहित होकर तपस्या की थी, आलस्यरहित होकर धर्माचरण किया था, लोभरहित होकर योगाभ्यास किया था एवं मोहरहित होकर शरीर का त्याग किया ॥ १६ ॥

निरस्याज्ञानमत्यन्तं यथा ध्वान्तं दिवाकरः ।
पवित्वा जन्मना लोकं गतो भूयः स नेष्यति ॥ १७ ॥

जिस प्रकार सूर्य, अन्धकार को दूर करता है उसी तरह मुनि अज्ञान को बिलकुल नष्ट कर, अपने जन्म से संसार को पवित्र कर, चले गये । फिर नहीं लौटेंगे ॥ १७ ॥

बहवो भवसन्त्रस्ता जनास्तं शरणं ययुः ।
भवदुःखक्षयायैव तस्य जन्माभवन्मुनेः ॥ १८ ॥

बहुत से लोग संतप्त होकर, उन मुनि की शरण में गये (क्योंकि) भवदुःख-नाश के लिये ही उनका जन्म हुआ था ॥ १८ ॥

निन्ये श्रेयांसि लोकान् स तस्तार पृथिवीं गुणैः ।
ववृधे चोज्ज्वला कीर्तिस्तस्य स्वैरेव धामभिः ॥ १९ ॥

मुनि ने संसार को श्रेय में पहुँचाया । अपने गुणों से पृथ्वी को तार दिया । उनके स्वयं के तेज से उनकी उज्ज्वल कीर्ति बढ़ी ॥ १९ ॥

शुश्राव सोऽयशोऽम्लानो दीनैर्वार्तां चकार च।
जग्राहाशुचि नो भोज्यं न ननन्द प्रियाशनैः॥ २०॥

उन्होंने अपनी अपकीर्ति सुनकर ग्लानि नहीं की। (उन्होंने) दीनों के साथ भी बात की, अपवित्र भोजन स्वीकार नहीं किया तथा (वे) प्रिय भोजन से प्रसन्न नहीं हुए॥ २०॥

जिगाय चेन्द्रियग्रामं तत्याज विषयग्रहम्।
अन्यैर्यद्दुर्लभं तच्च नैष्कर्म्यं समवाप सः॥ २१॥

उन्होंने इन्द्रियसमूह को जीता, विषय का आग्रह त्याग किया एवं दूसरों के लिये जो दुर्लभ था—उस नैष्कर्म्य (निष्कामता) को प्राप्त किया॥ २१॥

जहौ राज्यं च धैर्येण गुणैराकृष्टवाञ्जनान्।
यन्न पूर्वं ददौ कश्चित्तदगृध्नुरदादसौ॥ २२॥

(उन्होंने) धैर्य से राज्य का त्याग किया, गुणों से लोगों को आकृष्ट किया तथा जो दान, पहिले किसी ने नहीं दिया—ऐसा दान, लोभ रहित होकर संसार को दिया॥ २२॥

नेत्रे मुकुलिते चास्तां चित्तमाचारसंवृतम्।
श्रेयोविकसितञ्चासीद्योगिनस्तस्य सर्वदा॥ २३॥

उनके नेत्र सदा मुकुलित (आधे बन्द) रहते थे। उनका चित्त सदाचार से घिरा होता था। उन योगी का श्रेय (कल्याण) सदा विकसित रहता था॥ २३॥

नाचरत्कुत्सितं कर्म श्रेयः कर्म सदाऽचरत्।
कामारींश्च वशीकृत्य पापं चिच्छेद मूलतः॥ २४॥

उन्होंने कुत्सित (खराब) कर्म का आचरण नहीं किया (अपितु) शुभ कर्म का सदैव आचरण किया। (उन्होंने) कामरूपी शत्रु को वश में करके पाप का मूलोच्छेदन किया॥ २४॥

धर्मं ररक्ष योगेन शर्म लेभे ह्यनुत्तमम्।
चिकाय स यशोऽक्षय्यं यमं कामं जिगाय च॥ २५॥

उन मुनि ने योग से धर्म की रक्षा की तथा उत्तम सुखलाभ किया। अक्षय यश प्राप्त किया तथा यम एवं काम को जीता॥ २५॥

अष्टौ विहाय धैर्येण पञ्च चैवाजयद्वशी।
त्रिविधं कर्म हित्वा च त्रयञ्च विविचे धिया॥ २६॥

धैर्य से आठ (अपरा प्रकृति) को त्याग कर जितेन्द्रिय ने पाँच (कर्मेन्द्रियों) को जीता । त्रिविध कर्मों का त्याग करके बुद्धि से तीन का विवेचन किया ॥२६॥

त्रिविधां दृष्टिमासाद्य चैकमेव जुगोप सः ।
गुरूणि सप्तवस्तूनि संत्यज्यैकमचिन्तयत् ॥ २७ ॥

उन गुरु ने तीन प्रकार की दृष्टि प्राप्त करके एक ही की रक्षा की एवं सात गुरु वस्तुओं का सम्यक् त्याग करके एक का चिन्तन किया ॥ २७ ॥

निनाय सज्जनाञ्छ्रद्धां शान्तिमार्गमशोधयत् ।
पापवृक्षं च सञ्छिद्य श्रद्धावन्तममोचयत् ॥ २८ ॥

सज्जनों को श्रद्धा पर पहुँचाया, शान्तिमार्ग का शोधन किया तथा पाप वृक्ष को छेदकर श्रद्धावानों को छुड़ाया ॥ २८ ॥

अतर्पयज्जगद्वृक्षं प्रभूतैर्वचनामृतैः ।
शिष्यानरमयद्धर्मेऽनयच्चापि विशोकताम् ॥ २९ ॥

(उन्होंने) अपने प्रभूत वचनामृतों से जगत् वृक्ष को सींचा, शिष्यों को धर्म में रमाया तथा उन्हें शोकरहित कर दिया ॥ २९ ॥

उवापार्येषु सद्धर्ममार्याध्वानं निनाय तान् ।
अनार्यानपि सद्धर्मं कृपया समशिक्षयत् ॥ ३० ॥

(उन्होंने) आर्य पुरुषों में सद्धर्म को बोया, उन्हें आर्य मार्ग में पहुँचाया एवं अनार्यों को कृपापूर्वक सद्धर्म की शिक्षा दी ॥ ३० ॥

युक्त्याऽन्यदर्शनं चासौ निराकृत्य विनायकः ।
प्रत्यक्षेण च योगेन दर्शयामास तात्त्विकम् ॥ ३१ ॥

उस विनायक ने युक्ति से अन्य दर्शनों का निराकरण करके प्रत्यक्ष योग से तात्त्विक सिद्धान्त दर्शाया ॥ ३१ ॥

अनात्मेदमनित्यं च दर्शयित्वाऽसुखं जगत् ।
उच्छ्रितं हि यशःकेतुं स्वकीयं वितताान सः ॥ ३२ ॥

जगत् को अनात्मा, अनित्य तथा सुख-रहित दिखाकर (बताकर) अपनी उन्नत कीर्तिरूपी पताका को उड़ाया ॥ ३२ ॥

निन्दया तस्य चित्तं हि न चुक्षोभ कदाचन ।
योगिनस्तस्य कामोऽभून्न च लोकप्रवृत्तिषु ॥ ३३ ॥

उस योगी का चित्त निन्दा से कभी क्षुभित (विचलित) नहीं हुआ और लोकप्रवृत्ति में उनकी कभी इच्छा नहीं हुई ॥ ३३ ॥

स्वयमुत्तीर्य लोकान् स मग्नान् मोहादतारयत् ।
स्वयं मुक्तश्च लोकस्य कर्मग्रन्थिममोचयत् ॥ ३४ ॥

उन महात्मा ने स्वयं संसार से पार होकर, मोह में मग्न लोगों को पार उतारा और स्वयं मुक्त होकर संसार की कर्मग्रन्थि को मुक्त किया ॥ ३४ ॥

धर्मप्रियः स सर्वज्ञो न्याय्यान्याय्यविदां वरः ।
उपदिश्योत्तमं ज्ञानं गतो नित्यां सतां गतिम् ॥ ३५ ॥

न्याय, अन्याय के जानने वालों में श्रेष्ठ धर्मप्रिय वह सर्वज्ञ, उत्तम ज्ञान का उपदेश करके सज्जनों की नित्य गति को प्राप्त हुआ ॥ ३५ ॥

गौरवे मेरुणा तुल्यः क्षमायां पृथिवीसमः ।
जलदेन समो दाता स मुनिर्नाद्य वर्तते ॥ ३६ ॥

गौरव में मेरु के तुल्य, क्षमा में पृथ्वी के तुल्य, तथा दाता में मेघ (जलद) के तुल्य वे मुनि आज नहीं हैं ॥ ३६ ॥

पुत्रवल्लालितो लोकः शिष्यवच्छिक्षितस्तथा ।
प्रजावत्पालितो येन स मुनिर्नाद्य वर्तते ॥ ३७ ॥

जिसने पुत्रवत् संसार का लालन किया, शिष्यवत् उसको (संसार को) शिक्षित किया तथा प्रजावत् पाला, वे मुनि आज नहीं हैं ॥ ३७ ॥

ससेनोऽनेकशः क्रुद्धः कामो यस्मात्पराजितः ।
मृत्युना सह संगम्य जेतुमद्य शशाक तम् ॥ ३८ ॥

कुपित काम सेनासहित अनेक वार जिस मुनि से पराजित हुआ, वह काम आज मृत्यु के साथ होकर, उस मुनि को जीतने में समर्थ हुआ ॥ ३८ ॥

इमे देवा नराश्चात्र मुह्यन्ते शोकसंप्लुताः ।
यतः शोकात्परेऽध्वानं शान्तं नाद्यापि लेभिरे ॥ ३९ ॥

ये देवता और मनुष्य, आज शोक से व्याकुल होते हुए मोह कर रहे हैं क्योंकि अभी भी शोक से परे शान्तिमार्ग को नहीं पाये हैं ॥ ३९ ॥

विश्वं स्वस्मिन् ददर्शासौ दर्पणे प्रतिविम्बवत् ।
दिव्यश्रोत्रेण विश्वस्य शब्दं शुश्राव चान्तिके ॥ ४० ॥

उस मुनि ने, दर्पण में प्रतिविम्ब की तरह, अपने में विश्व को देखा एवं दिव्य श्रोत्र से विश्व भर का शब्द समीप में सुना ॥ ४० ॥

रुरोह स्वरनालम्बो नानारूपं दधार सः ।
विवेश भुवि निर्बाधममग्नोऽचरदम्भसि ॥ ४१ ॥

उस सर्वज्ञ ने निरालम्ब होकर स्वर्गारोहण किया; अनेक रूप धारण किया, बाधारहित पृथ्वी में प्रवेश किया एवं बिना डूबे ही जल पर गमन किया ॥ ४१ ॥

विवेदातीतजन्मानि भुक्तवासमिवाध्वगः ।
अतीन्द्रियान्मनोभावानन्येषां च बुबोध सः ॥ ४२ ॥

उस मुनि ने अपने अतीत जन्मों को उसी तरह जाना जैसे पथिक अपने पूर्वभुक्त निवास स्थान को जानता है, और दूसरों के भी अतीन्द्रिय मनोभाव को जाना ॥ ४२ ॥

चकर्त्त ह्याश्रयान् सर्वान् पूर्णकामो जितेन्द्रियः ।
सर्वैः साकं तु सर्वज्ञः समानं स व्यवाहरत् ॥ ४३ ॥

उस पूर्ण काम जितेन्द्रिय मुनि ने सब आश्रयों (चित्तमलों) को काटा तथा उस सर्वज्ञ ने सबके साथ समान व्यवहार किया ॥ ४३ ॥

चलचित्तानपि प्राज्ञो दिदीक्षे करुणामयः ।
उन्निन्ये च शनैस्तेषां मन्दचेतांसि पाटवम् ॥ ४४ ॥

करुणामय प्राज्ञ मुनि ने चंचल चित्त वालों को भी दीक्षा दी और उनके मन्द चित्त को कुशल (पटु) बनाया ॥ ४४ ॥

पीडितेभ्यो हताशेभ्यः कोऽत्र शान्तिं प्रदास्यति ।
तेषां छेत्स्यति को दोषान् दोषमुक्तः सदाऽऽत्मना ॥ ४५ ॥

अब यहाँ हताश एवं पीड़ितों को कौन शान्ति दिलायेगा ? तथा स्वयं विमुक्त (निर्दोष) होकर लोगों का दोष कौन छेदेगा ? ॥ ४५ ॥

भवसिन्धौ निमग्नाँश्च को दीनानुद्धरिष्यति ।
कोऽज्ञानवारिधौ मग्नाँस्तारयिष्यति नौरिव ॥ ४६ ॥

संसार सागर में डूबते हुए दु:खी जनों का उद्धार कौन करेगा ? तथा अज्ञान सागर में डूबते हुए को नौका की तरह कौन पार करेगा ॥ ४६ ॥

समुद्र इव शुष्काप्श्चास्तसूर्यमिवाम्बरम् ।
भ्रष्टराज्य इवाधीशो लोकोऽयं मुनिना विना ॥ ४७ ॥

मुनि के विना अब यह संसार जलरहित समुद्र की तरह, सूर्य के अस्त होने पर आकाश की तरह तथा राज्य से भ्रष्ट राजा की तरह हो रहा है ॥ ४७ ॥

विद्येव च विना बुद्धिं क्रियेवाचारवर्जिता ।
धर्मश्चैव दयाहीनो लोकोऽयं मुनिना विना ॥ ४८ ॥

उस मुनि के बिना आज यह संसार, बुद्धि के बिना विद्या की तरह, आचार के बिना क्रिया की तरह एवं दयाहीन धर्म की तरह हो रहा है ॥ ४८ ॥

सेनापतिं विना सेना सारथिं च विना रथः ।
पत्नीव च विना पत्या लोकोऽयं मुनिना विना ॥ ४९ ॥

उस मुनि के बिना यह संसार, सेनापति के बिना सेना की तरह, सारथी के बिना रथ की तरह, पति के बिना पत्नी की तरह हो रहा है ॥ ४९ ॥

निशापतिं विना रात्री राज्यं भूपतिना विना ।
न शोभते यथा चैते तथा लोकोऽपि तं विना ॥ ५० ॥

चन्द्रमा के विना रात्रि, राजा के विना राज्य—जिस प्रकार ये सब शोभा नहीं पाते हैं उसी प्रकार मुनि के बिना यह संसार शोभा नहीं पा रहा है ॥ ५० ॥

अर्हन्नपि कृतार्थोऽपि जगद्दोषान् गुरोर्गुणान् ।
बहुशो वर्णयासास कृतज्ञः सः गुरुं प्रति ॥ ५१ ॥

वह मुनि अर्हत और कृतार्थ होने पर भी जगत् का दोष और गुरु के गुण का वर्णन अनेक वार किया । क्योंकि वह गुरु के प्रति कृतज्ञ था ॥ ५१ ॥

ये च तत्र ह्यतत्त्वज्ञा रुरुदुस्ते हि भिक्षवः ।
नाशशीलं जगद्वीक्ष्य तज्ज्ञा धैर्यं न तत्यजुः ॥ ५२ ॥

वहाँ पर जो अतत्त्वज्ञ थे वे भिक्षु रो रहे थे किन्तु जो तत्त्वज्ञ थे, वे जगत् को नाशवान समझकर, धैर्य नहीं छोड़े ॥ ५२ ॥

श्रुतोदन्ता विपन्ना हि मल्लास्तत्र समाययुः ।
भेका इव फणिग्रस्ता विलेपुर्विस्वरं भृशम् ॥ ५३ ॥

(बुद्ध-निर्वाण) वृत्तान्त सुनकर मल्ल लोग दुःखी होते हुए वहाँ आये और साँप से पकड़े गये भेक (मेंढक) की तरह जोर-जोर से अत्यन्त विलाप करने लगे ॥ ५३ ॥

गतप्राणं मुनिं दृष्ट्वा यथा सूर्यं गतप्रभम् ।
मोहध्वान्ते निमग्नास्ते भक्त्या संरुरुदुर्बहु ॥ ५४ ॥

प्रभारहित सूर्य की तरह, प्राणरहित मुनि को देख कर, मोहरूप मूर्च्छा में डूबते हुए, भक्ति के कारण वे वारम्वार रुदन करने लगे ॥ ५४ ॥

ये हि धर्मगुरोर्निर्वाणादासञ्छोकसंकुलाः ।
तेषु धर्मरतश्चैको धीरश्चाह विदन्निदम् ॥ ५५ ॥

धर्मगुरु के निर्वाण से जो शोकाकुल हो रहे थे, उनमें एक धर्मपरायण धीर मल्ल ऐसा जानता हुआ बोला—॥ ५५ ॥

सुप्तान् प्रबोधयामास लोकान् यः स जगद्गुरुः ।
पश्चिमाशामिवादित्यो मृत्युशय्यां समाश्रितः ॥ ५६ ॥

"जिन जगद्गुरु ने सोते हुए लोगों को जगाया वे पश्चिम दिशा में अस्त होते हुए सूर्य की भाँति मृत्युशय्या पर पड़े हैं ॥ ५६ ॥

तिग्मैर्ज्ञानांशुभिर्येन गाढाज्ञानतमोऽनिशम् ।
नाशितं बुद्धसूर्येण सोऽसावस्तं जगाम हा ॥ ५७ ॥

हा ! जिन्होंने तीक्ष्ण ज्ञानरूप किरण से अज्ञानरूप घने अंधकार को निरन्तर नष्ट किया, वह बुद्धरूपी सूर्य अस्त हो रहा है ॥ ५७ ॥

दध्वंसे ज्ञानयानं हि लोकचक्षुर्निमेष च ।
तुत्रोट धर्मसेतुश्च सर्वमेव ननाश हा ॥ ५८ ॥

ज्ञानरूपी विमान नष्ट हो गया, लोक-चक्षु बन्द हो गये, धर्मसेतु टूट गया । हाय ! सब कुछ नष्ट हो गया ॥ ५८ ॥"

एवं हि रुरुदुः केचिद्विलेपुः केऽपि वै भृशम् ।
अन्ये ज्ञानादधुर्धैर्यं मौनिनश्च परे स्थिताः ॥ ५९ ॥

इस तरह कोई रोने लगे, कोई अत्यन्त विलाप करने लगे, कुछ ज्ञान से धैर्य धारण किये रहे तथा दूसरे मौन स्थित रहे ॥ ५९ ॥

विलपन्तस्ततो मल्लाः करैः शुण्डोपमैर्मुनेः ।
शिविकायां सुभद्रायां सौवर्ण्यां निदधुः शवम् ॥ ६० ॥

तब विलाप करते हुए वे मल्ल सूँड़ के समान भुजाओं से मुनि का शव स्वर्णमय सुन्दर शिविका में रखे ॥ ६० ॥

पुष्पैर्माल्यैश्च गन्धैश्च विविधैर्भक्तिमिश्रितैः ।
आनर्चुर्विधिना सर्वे जग्रहुः शिविकां ततः ॥ ६१ ॥

और विविध फूल-माला सुगंधि से भक्तिपूर्वक विधिवत् पूजा किये । तब उन सबोंने शिविका उठाई ॥ ६१ ॥

सुकुमार्यः कुमार्यश्च रणदाभरणैः करैः ।
तडित्प्रभं वितानं वै शिविकोपरि संदधुः ॥ ६२ ॥

सुकुमार कुमारियाँ भूषण से शब्दायमान हाथों से, विद्युत् के समान चमकदार चँदोवा को शिविका के ऊपर धारण किये ॥ ६२ ॥

छत्रं जग्राह वै कश्चित्सितैर्माल्यैरलं कृतम्।
चामराणि च शुभ्राणि केचिद्धैमानि जग्रहुः ।। ६३ ।।

किसी ने सफेद माला से सुसज्जित छत्र धारण किया तथा किसी ने स्वर्ण के डंडा वाले सफेद चँवर डुलाये ।। ६३ ।।

मल्लाश्च शनकैर्निन्युः स्कन्धाँस्तां ।शविकां शुभाम् ।
दिवि दुन्दुभयो नेदुः प्रावृट्काले घना इव ।। ६४ ।।

मल्लों ने उस सुन्दर शिविका को अपने कन्धों पर उठाया। उस समय आकाश में दुंदुभी बजने लगी मानो वर्षा काल से मेघ गरज रहे हों ।। ६४ ।।

निपेतुः सुरगङ्गाया हैमानि कमलानि वै।
गजानां केलिमत्तानां विकीर्णानि करैरिव ।। ६५ ।।

आकाश से देवगंगा के सुवर्णमय कमल के फूलों की वर्षा हुई मानो जलक्रीड़ा में मत्त देवगजों के सूँड़ों से विक्षिप्त होकर गिरे हों ।। ६५ ।।

दिवो देवाश्च सिद्धाश्च नन्दनोद्यानसम्भवैः।
कुसुमैः पारिजाताद्यैस्तत्यजुः सुमनोऽञ्जलीन् ।। ६६ ।।

स्वर्ग से देवताओं ने एवं सिद्धों ने नन्दन उद्यान में होने वाले पारिजात आदि पुष्पों से पुष्पांजलि अर्पण की ।। ६६ ।।

गन्धर्वाणां च देवानां रमण्यो यानसंस्थिताः।
मृत्युगीतं जगुर्मन्दमश्रुसिक्तस्तनस्रजः ।। ६७ ।।

गन्धर्वों और देवों की रमणियाँ विमान पर बैठी हुई, अश्रु से अपने स्तनों पर की मालाओं को भिगोती हुई, मन्द-मन्द मृत्यु-गीत गा रही थीं ।। ६७ ।।

उच्छ्रितैः केतुभिः शुभ्रैः सितैर्माल्यैरलंकृताम्।
वहन्तः शिविकां मल्लाः शनैर्जग्मुः शिवाध्वना ।। ६८ ।।

शुभ्र एवं उन्नत फहराती हुई पताकाओं से तथा शुक्ल मालाओं से सुशोभित उस शिविका को कन्धों पर लेकर, मल्ल धीरे-धीरे पवित्र मार्ग से चले ।। ६८ ।।

गायन्तः करुणं लोका मुनेर्दिव्यस्तवान् मुहुः।
श्रद्धया प्रणमन्तश्च मध्यग्रामेण संययुः ।। ६९ ।।

लोग बारम्बार करुणापूर्वक मुनि के दिव्य स्तोत्रों का पाठ कर रहे थे तथा श्रद्धा से प्रणाम कर रहे थे। इस तरह शव, गाँव के मध्य मार्ग से ले चले ।।६९।।

नागद्वारेण निर्गम्य ते हिरण्यवतीं नदीम् ।
तीर्त्वा मुकुटचैत्यस्य ह्यधश्चक्रुश्चितां शुभाम् ॥ ७० ॥

नाग द्वार से निकलकर वे लोग हिरण्यवती नदी के पार किये तथा मुकुट चैत्य के नीचे सुन्दर चिता रचे ॥ ७० ॥

चन्दनागुरुभिर्दिव्यै रचितायां च वल्कलैः ।
तस्यां ते विदधुः कायं मुनेर्गन्धादिवासितम् ॥ ७१ ॥

दिव्य चन्दन, अगरु तथा वल्कल आदि से रची गई । उस चिता पर गन्धादि-सुवासित मुनि का शरीर, मल्लों ने रखा ॥ ७१ ॥

ततः प्रज्वलिते दीपे त्रिःकृत्वो योजितेऽपि च ।
न जज्वाल चिता सा हि मन्त्रेणावेष्टिता इव ॥ ७२ ॥

तब दीपक जलाकर तीन बार चिता में लगाने पर भी वह चिता नहीं जली, मानो मंत्र से आवेष्टित (रोकी गई) हो ॥ ७२ ॥

काश्यपस्यायतो मार्गे शिष्यस्यालोकनार्थिनः ।
भावनातो निरुद्धा सा न जज्वाल चिता तदा ॥ ७३ ॥

दर्शनार्थी मुनि का शिष्य काश्यप मार्ग में आ रहा था । उसकी भावना से प्रतिबन्धित वह चिता उस समय नहीं जली ॥ ७३ ॥

धावँश्च काश्यपो म्लानो द्रुतमेत्य ननाम सः ।
पस्पर्श च गुरोः पादौ स्वयं जज्वाल सा ततः ॥ ७४ ॥

दीन-हीन काश्यप दौड़ता हुआ आया और (उसने) शीघ्रता से मुनि को प्रणाम किया । तब तत्काल वह चिता स्वयं जल उठी ॥ ७४ ॥

ददाहाग्निस्तु मांसादीन् पापं यान् दग्धुमक्षमम् ।
मुनेरस्थीनि दग्धुं तु न शशाक हुताशनः ॥ ७५ ॥

अग्नि ने मुनि के मांस, चर्म, लोम आदि को जलाया जिनको पाप नहीं जला सका था । किन्तु मुनि की हड्डी को वह अग्नि न जला सकी ॥ ७५ ॥

क्षालयित्वा ततोऽस्थीनि तानि कुम्भे च काञ्चने ।
निधाय स्थापयामासुर्मल्लाः स्वनगरे वरे ॥ ७६ ॥

तब मल्लों ने उन हड्डियों को धोकर स्वर्ण के कलश में रखकर अपने सुन्दर नगर में स्थापित किया ॥ ७६ ॥

घटेऽत्रास्ति स धातुर्वै यो न प्लुष्टश्चिताग्निना ।
यथा हि ब्रह्मणो धातुर्न नष्टः प्रलयाग्निना ॥ ७७ ॥

इस घट में वह धातु है जिसको चिता की अग्नि नहीं जला सकी जैसे ब्रह्मा की धातु को प्रलयाग्नि भी नहीं जला सकी थी ॥ ७७ ॥

अमूल्यश्च शिवश्चैव संसारं पवितुं क्षमः ।
स्थाप्यतेऽत्र मुनेर्भक्त्या जगच्छान्तिं क्रियादिति ॥ ७८ ॥

यह धातु मंगलमय एवं अमूल्य है, संसार को पवित्र करने में समर्थ है। मुनि की भक्ति से (इसे) यहाँ स्थापित करता हूँ। (यह) विश्व को शान्ति प्रदान करेगी ॥ ७८ ॥

कामः क्रोधश्च येनात्र भवश्चापि जितो दृढः ।
मुनेस्तस्य शिवो धातुरयं विश्वं पविष्यति ॥ ७९ ॥

जिन्होंने काम को, क्रोध को तथा दृढ़ संसार को भी जीता है, उस मुनि की यह कल्याणमयी धातु, विश्व को पवित्र करेगी ॥ ७९ ॥

अहो कालस्य नैष्ठुर्यं न जहौ मुनिपुङ्गवम् ।
यस्य धर्मेण कीर्त्या च व्याप्तं सर्वं चराचरम् ॥ ८० ॥

अहो ! काल कितना निठुर है जिसने मुनिश्रेष्ठ को भी नहीं छोड़ा; जिस मुनि के धर्म और कीर्ति से चराचर विश्व व्याप्त हो गया है ॥ ८० ॥

यस्य सूर्यसमा दीप्तिर्येन लोकः प्रकाशितः ।
पावकोऽपि मुनेस्तस्य चास्थिमात्रं जहौ वपुः ॥ ८१ ॥

सूर्य के समान जिसका तेज था, जिसने संसार को आलोकमय कर दिया, उस मुनि के शरीर को अग्नि ने भी अस्थिमात्र अवशेष छोड़ा ॥ ८१ ॥

भवाब्धिः शोषितो येन दग्धं दोषमहावनम् ।
तथापि तस्य गात्रं हि वह्निना भस्मसात्कृतम् ॥ ८२ ॥

जिसने संसार सागर को सोख लिया, दोषरूपी महावन को जला दिया तो भी उस मुनि के शरीर को अग्नि ने भस्मसात् कर दिया ॥ ८२ ॥

मल्ला जिग्यू रणे शत्रून् नापुर्दैन्यं कदाचन ।
विशोकान् स्वजनाँश्चक्रुस्तथापि रुरुदुर्हि ते ॥ ८३ ॥

जिन मल्लों ने रण में शत्रुओं को जीता, कभी दीनता को प्राप्त नहीं हुए तथा स्वजनों को शोकरहित किया, फिर भी वे आज इस तरह रो रहे थे ॥८३॥

शुचार्दितास्ते बलिनोऽपि दुर्बलाः-
पुरं प्रविष्टा इव शून्यकाननम् ।

ततोऽस्थिपूजाभवनं विनिर्ममु-
भुवि स्थितो हंस इवाब्जजन्मनः ॥ ८४ ॥

इति श्रीरामचन्द्रदासकृते उत्तरबुद्धचरितमहाकाव्ये
"निर्वाणप्रशंसा" नाम सप्तविंशः सर्गः

वे मल्ल यद्यपि बलवान थे किन्तु शोकाक्रान्त होने से दुर्बल हो रहे थे। तब (उन लोगों ने) मुनि की अस्थि का पूजाभवन बनवाया मानो ब्रह्मा का हंस स्वर्ग से पृथ्वी पर आ गया हो ॥ ८४ ॥

यह श्रीरामचन्द्रदासकृत उत्तरबुद्धचरित महाकाव्य में
'निर्वाण-प्रशंसा'' नामक सत्ताईसवाँ सर्ग
समाप्त हुआ ।

———

अथ अष्टाविंशः सर्गः

धातुविभाजनम्

धातु-विभाजन

मल्लैरर्चितधातुं तं नेतुं कालान्तरे क्रमात्।
दूतास्तत्रायय् राज्ञां सप्तानां प्रतिवेशिनाम्॥ १॥

तब कुछ काल के बाद मल्लों से पूजित, उस धातु को लेने के लिये, पड़ोसी सात राजाओं के दूत क्रमशः वहाँ आये॥ १॥

धातौ श्रद्धातिरेकाद्धि मल्लाश्च बलगौरवात्।
तद्दानापेक्षया तैस्तु युद्धं श्रेयस्करं विदुः॥ २॥

धातु में अत्यन्त श्रद्धा होने के कारण तथा अपने बल के गौरव से मल्लों ने धातु देने की अपेक्षा उनके साथ युद्ध करना श्रेयस्कर समझा॥ २॥

इति दूतैः समाकर्ण्य ते नृपाः सप्त कोपतः।
ऊर्मिभिरिव सेनाभिः साकं तत्र समाययुः॥ ३॥

तब दूतों के मुख से इस तरह की बात सुनकर, वे सात राजा क्रोध करके समुद्र की लहर की तरह, सेनाओं के साथ वहाँ आये॥ ३॥

ह्रेषाभिः सैन्यवाहानां बृंहितैर्दन्तिनां तथा।
भीता बहिः स्थिताः पौराः सत्वरं विविशुः पुरम्॥ ४॥

सेना के अश्वों के हिनहिनाहट से और हाथियों के चीत्कार से डरकर, पुरवासी बाहर से शीघ्र नगर में प्रविष्ट हो गये॥ ४॥

बहिः कुशपुरात्तस्मान्निवेश्य शिविरं दृढम्।
मल्लानाजुहवुः क्रुद्धा नृपा युद्धाय सप्त ते॥ ५॥

उन सात राजाओं ने कुशपुर के बाहर, शिविर में, सेनाओं का दृढ़ शिविर बनाकर, क्रोध के कारण मल्लों को युद्ध के लिये ललकारा॥ ५॥

तथा भयाकुलस्त्रीव सा पुरी द्वारनेत्रयोः।
शीघ्रं कपाटवर्त्मानौ संपिधाय शुशोच ह॥ ६॥

तब भय से व्याकुल स्त्री की तरह वह पुरी नेत्ररूपी द्वारों को पलकरूपी कपाटों से जल्दी बन्द करके शोक करने लगी॥ ६॥

ग्रहाणामिव सप्तानां राज्ञामेकत्र संक्रमात् ।
उपद्रुता धरा वेगाच्चुक्षुभे साद्रिसागरा ॥ ७ ॥

सात ग्रहों की तरह उन सात राजाओं के एकत्र होने से पृथ्वी उपद्रवयुक्त होकर, समुद्र-पर्वत सहित बड़े वेग से काँपने लगी ॥ ७ ॥

हस्त्यश्वरथपत्तीनां सञ्चारात्तु समुत्थितैः ।
रजोभिर्भास्करे लुप्ते दुर्दिनं समजायत ॥ ८ ॥

हाथी, घोड़े, रथ और पदाति सैनिकों के संचार से उठी हुई धूलि से सूर्य ढक जाने के कारण दुर्दिन हो गया ॥ ८ ॥

रुरुधुर्नगरं भूपा वाहिनीभिः समन्ततः ।
समुद्रा लोककल्लोलैर्वसुधां प्रलये यथा ॥ ९ ॥

राजाओं ने सेनाओं से नगर को चारों ओर से घेर लिया जैसे प्रलय काल में समुद्र, चंचल तरंगों से पृथ्वी को घेर लेता है ॥ ९ ॥

धृतधैर्या भयं त्यक्त्वा प्राकारे संगता द्रुतम् ।
पौराः शत्रुषु तीक्ष्णानि शस्त्राण्यस्त्राणि चिक्षिपुः ॥ १० ॥

पुरवासी धैर्य धारण कर एवं भय त्याग कर संगठित हुए तथा प्राकार (परकोट) के ऊपर चढ़कर शत्रुओं पर तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्र छोड़ने लगे ॥ १० ॥

जगर्जुः सिंहविक्रान्ताः कम्बून् दध्मुस्तथापरे ।
केचित्खड्गांश्च निष्कास्य संचक्रमुरितस्ततः ॥ ११ ॥

सिंह के समान पराक्रमी कोई-कोई गरजने लगे, दूसरे शंख बजाने लगे, कोई तलवार खींचकर यहाँ पैंतरा करने लगे ॥ ११ ॥

वीरपत्न्यः पतीन् वीरान् विजयाय समुत्सुकान् ।
माङ्गल्यैः कुङ्कुमैः पुष्पैः रणगीतैरपूपुजन् ॥ १२ ॥

वीरों की पत्नियों ने विजय के लिये उत्सुक अपने वीर पतियों की मांगलिक कुमकुम, पुष्प और रणगीत से पूजा की ॥ १२ ॥

वीरान् पुत्रांश्च यात्रासु जङ्गालान् कम्पितैः करैः ।
मातरो वर्मभिश्चार्मैरुपासैङ्गैरनीनहन् ॥ १३ ॥

माताओं ने काँपते हाथों से युद्ध में पराक्रम दिखाने वाले अपने वीर पुत्रों को कवच, ढाल एवं तरकस आदि से सजाया ॥ १३ ॥

मृगाक्ष्यः कातराः काश्चित्स्वधवानां करे स्थितान् ।
चापान् धृत्वा च निम्नास्या न तस्थुर्न ययुः पुनः ॥ १४ ॥

कुछ कातर मृगनयनी अपने पतियों के हाथ में स्थित धनुष को पकड़कर नीचे मुख करके न जा सकीं (और) न ठहर सकीं ।। १४ ।।

मल्लान् युद्धाय सन्नद्धान् सर्पानिव विनिर्गतान् ।
दृष्ट्वा भूपाश्च संक्रुद्धा निश्चिच्युस्ते महारणम् ।। १५ ।।

तब उन राजाओं ने मल्लों को युद्ध के लिये तैयार सर्प की तरह निकलते हुए देखकर, कुपित होकर, महायुद्ध का निश्चय किया ।। १५ ।।

द्रोणो विप्रवरः कश्चित्करुणाकुलमानसः ।
दृष्ट्वा युद्धोन्मुखान् वीरान् सूनृतं स वचोऽब्रवीत् ।। १६ ।।

तब करुणा से आकुल मन वाला कोई द्रोण नामक श्रेष्ठ ब्राह्मण युद्धोन्मुख वीरों को देखकर सुमधुर वचन बोला—।। १६ ।।

बहिःस्थितानरीञ्जेतुं शस्त्रैः स्यात्सुलभं रणे ।
प्राकाराभ्यन्तरस्थाँस्तु न तथा संहतान्पुनः ।। १७ ।।

बाहर स्थित शत्रुओं को शस्त्रों से जीतना सुलभ है किन्तु प्राकार (परकोट) के अन्दर स्थित (शत्रु) को जीतना सुलभ नहीं है, उस पर भी यदि संगठित हो तो (और भी) अत्यन्त दुर्लभ है ।। १७ ।।

कदाचित्पुरसावृत्य जेया वाभ्यन्तरेऽरयः ।
न धर्म्यं कदनं तद्धि पौराणां तु निरागसाम् ।। १८ ।।

कदाचित् नगर को घेर कर भीतर ही शत्रुओं को जीता भी गया तो वह धार्मिक युद्ध नहीं कहलायेगा अपितु निरपराध पुरवासियों की हत्या कहलायेगी ।। १८ ।।

बलदर्पात्प्रविश्यान्तो योत्स्यध्वेऽन्यायतो यदि ।
न्यायप्रियेषु वै तेषु न युष्मज्जयसम्भवः ।। १९ ।।

बल के दर्प (अहंकार) से अन्दर प्रवेश कर अन्याय से यदि आपने युद्ध किया तो न्यायप्रिय लोगों पर आपकी विजय सम्भव नहीं ।। १९ ।।

पुरप्रवेशमाकर्ण्य तुच्छोऽपि विक्रमिष्यति ।
वराकाः पादसंक्रान्ताः कीटाश्चापि दशन्त्यलम् ।। २० ।।

नगर में प्रवेश सुनकर तुच्छ प्राणी भी पराक्रम दिखायेगा क्योंकि पैर से ठोकर खाकर छोटा कीड़ा भी अत्यन्त काटता है ।। २० ।।

धार्मिका अपि संक्रुद्धा वृद्धास्तेजोबलान्विताः ।
जिग्युः कुशपुरे युद्धे पुरा भूपं करन्धमम् ।। २१ ।।

वृद्ध धार्मिक लोगों ने भी क्रुद्ध होकर पूर्वकाल में कुशपुर के युद्ध में करन्धम राजा को जीता था ।। २१ ।।

यशोऽर्थं विषयार्थं वा जिता यैर्निखिला धरा ।
तेऽपि भूपाः करालेन कालेन कवलीकृताः ।। २२ ।।

जिन्होंने विषय अथवा यश के लिये सारी पृथ्वी को जीता था, वे राजा भी कराल काल के कवल (कौर, ग्रास) हो गये ।। २२ ।।

तस्माद्धर्मार्थकामानां स्वरूपं निपुणं धिया ।
विविच्य शान्त्युपायेन वर्तितव्यं सुखार्थिभिः ।। २३ ।।

अतः धर्म, अर्थ एवं काम का स्वरूप निपुणतापूर्वक; बुद्धि से विवेचन कर शान्ति उपाय से, सुख चाहने वालों को बरतना चाहिये ।। २३ ।।

पुनः प्रकोपमायाति जितानामायुधैर्मनः ।
शान्त्यायुधैर्जितानां तु शश्वच्छान्ति निगच्छति ।। २४ ।।

शस्त्र से जीते हुए मनुष्यों का मन पुनः प्रकुपित हो जाता है; किन्तु शान्ति के उपायों से जीते हुए मनुष्यों का मन, सदा के लिये शान्त हो जाता है।।२४।।

यं हि शाक्यमुनिं यूयं सम्मानयितुमिच्छथ ।
तस्यैव शासनाच्छान्तिमाश्रयध्वं प्रयत्नतः ।। २५ ।।

आप लोग जिन शाक्यमुनि का सम्मान करना चाहते हैं; उन्हीं की आज्ञा से प्रयत्नपूर्वक शान्ति का आश्रय लें ।। २५ ।।

निर्भीकेण द्विजेनैवमुक्ते स्पष्टे दयान्विते ।
नृपास्तेजस्विनः शान्ताः प्रत्यवोचँस्तरस्विनः ।। २६ ।।

दयायुक्त उस ब्राह्मण के इस प्रकार निर्भीकतापूर्वक कहने पर, उन बलवान तेजस्वी राजाओं ने शान्त होकर इस प्रकार कहा—।। २६ ।।

मैत्र्या तथ्यं हितं चोक्तं भवताऽतः शृणु मद्वचः ।
धर्मेऽस्माकं रतिश्चास्था बलेऽस्याजेर्हि कारणम् ।। २७ ।।

"आपने मित्र की तरह यथार्थ एवं हितकर वचन कहा; अतः मेरी बात सुनिये—'हम लोगों का धर्म में प्रेम तथा बल में विश्वास है—यही युद्ध का कारण है ।। २७ ।।

प्रायः कामाच्च लोभाच्च युध्यन्ते भुवि मानवाः ।
अस्माभिस्तु मुनेर्भक्त्या धृतं शस्त्रं स्वभावतः ।। २८ ।।

बहुधा (प्रायः) भूमण्डल पर लोग इच्छा एवं लोभ से युद्ध करते हैं । हम लोगों ने तो मुनि में भक्ति होने के कारण स्वभाव से शस्त्र ग्रहण किया है ।। २८ ।।

युयुधे सह कृष्णेन चेदिराजोऽभिमानतः ।
अभिमानो जितो येन तस्यार्चां किन्न कुर्महे ॥ २९ ॥

चेदिराज ने अभिमान से कृष्ण के साथ युद्ध किया था। जिस मुनि ने अभिमान को जीता, उसकी पूजा हम क्यों न करें ॥ २९ ॥

मृधे युयुधिरे कामात्कन्यार्थं वृष्णयोऽन्धकाः ।
येन कामो जितः सम्यक् तस्यार्चां किन्न कुर्महे ॥ ३० ॥

वृष्णि और अन्धक ने कन्या की कामना से संग्राम में युद्ध किया। जिस मुनि ने काम को अच्छी तरह जीता, उनकी पूजा हम क्यों न करें ॥ ३० ॥

ननाश रावणः सीतां गृहीत्वा कालरूपिणीम् ।
संत्यक्तः संग्रहो येन तस्यार्चां किन्न कुर्महे ॥ ३१ ॥

रावण, कालरूपिणी सीता को ग्रहण करने से नष्ट हुआ। जिस मुनि ने संग्रह का त्याग किया, उसकी पूजा हम क्यों न करें ॥ ३१ ॥

क्रोधाद्धि भार्गवो राज्ञां कुलं चिच्छेद मूलतः ।
येन क्रोधो जितः सम्यक् तस्यार्चां किन्न कुर्महे ॥ ३२ ॥

परशुराम ने क्रोध से राजाओं को समूल नष्ट किया। जिन मुनि ने क्रोध को सम्यक् प्रकार से जीता, उसकी पूजा हम क्यों न करें? ॥ ३२ ॥

लोके वहुविधं युद्धं बभूवानुचितं मुहुः ।
वयं तु मुनिपूजार्थं किन्न युद्धामहे हितम् ॥ ३३ ॥

विश्व में वहुत प्रकार के, अनेक वार, अनुचित युद्ध हुए। हम लोग, मुनि की पूजा के लिये, यह हितकर युद्ध क्यों न करें? ॥ ३३ ॥

मोहात्परस्परं नष्टौ संयुध्यैलिपकावुभौ ।
येन मोहो जितः सम्यक् तस्यार्चां किन्न कुर्महे ॥ ३४ ॥

ऐलि और पक, दोनों मोह से आपस में युद्ध करके नष्ट हो गये। जिन मुनि ने मोह को सम्यग् रूप से जीता, उनकी पूजा हम क्यों न करें? ॥ ३४ ॥

अयमस्मत्समुद्देशो दूतो भूत्वा द्रुतं व्रज ।
विना युद्धेन सिद्धिः स्यात्सर्वथा त्वं तथा कुरु ॥ ३५ ॥

यह हम लोगों का उद्देश्य है। आप दूत बनकर शीघ्र जावें और बिना युद्ध के कार्य-सिद्धि हो, ऐसा प्रयत्न करें ॥ ३५ ॥

तीक्ष्णायुधा वयं युद्धे शक्ताश्चापि तवाग्रहात् ।
सन्निरुद्धा गतावेगा मन्त्रमुग्धा इवाहयः ॥ ३६ ॥

हमारे पास तीक्ष्ण अस्त्र-शस्त्र हैं तथा हम युद्ध में समर्थ भी हैं, किन्तु आपके आग्रह से, हम लोगों का वेग उसी तरह रुक गया है जैसे मन्त्रमुग्ध सर्प रुक जाता है" ॥ ३६ ॥

ततोऽसौ ब्राह्मणो राज्ञामाज्ञामादाय सत्वरम् ।
प्रविश्य नगरं मल्लान् यथाकालं व्यजिज्ञपत् ॥ ३७ ॥

तब वह ब्राह्मण, राजाओं की आज्ञा लेकर, शीघ्र नगर में गया और (उसने) यथासमय मल्लों को बताया ॥ ३७ ॥

सन्नद्धा वर्मिणो वीरास्तीक्ष्णबाणा युयुत्सवः ।
पुरोद्वारेषु युष्माकं गर्जन्ति हरिविक्रमाः ॥ ३८ ॥

"तीक्ष्ण बाण वाले कवचधारी वीर, युद्ध की इच्छा से तैयार होकर आप लोगों के नगर के द्वार पर, सिंह के समान गरज रहे हैं ॥ ३८ ॥

अमोघं स्वायुधं वीक्ष्य चाजेयं स्वबलं तथा ।
मुनिधर्ममनुस्मृत्य बिभ्यत्येते न वै रणात् ॥ ३९ ॥

अपना अमोघ आयुध तथा अजेय बल देखकर भी मुनि के धर्म का स्मरण करके डरते हैं (किन्तु) रण से नहीं डरते हैं ॥ ३९ ॥

अहङ्कारान्न राज्याय मुनिभक्त्यैव केवलम् ।
आगतानां वचोऽस्माकं मान्यं चेति वदन्ति ते ॥ ४० ॥

'अहंकार से नहीं; और न राज्य के लिये (अपितु) केवल मुनि की भक्ति से हम सब (यहाँ) आये हैं हम लोगों का बचन मानना चाहिये—' ऐसा वे कहते हैं ॥ ४० ॥

यथा वः स तथाऽस्माकं गुरुर्विश्वगुरुर्मुनिः ।
तस्यास्थ्नामेव पूजार्थं वयमत्र समागताः ॥ ४१ ॥

वह मुनि, जिस तरह आपके गुरु हैं, उसी तरह हमारे भी गुरु हैं। क्योंकि वे विश्व-गुरु (संसार के गुरु) हैं उनकीं अस्थि की पूजा के लिये हम यहाँ आये हैं ॥ ४१ ॥

यथाघं धर्मकार्पण्यं तथाघं नान्यथा भुवि ।
कार्पण्यवचनं पापं पापं धर्मस्य घातनम् ॥ ४२ ॥

पृथ्वी पर धर्म की कृपणता से जितना प्राप लगता है, उतना पाप दूसरी तरह से नहीं लगता है। कृपण वचन बोलना पाप है, तथा धर्म का घात करना पाप है ॥ ४२ ॥

दातुं नेच्छथ चेद्धातुं निर्गम्य नगराद्बहिः ।
द्वारस्थानतिथीन् वीरान् प्रीणीध्वं वीरकर्मभिः ॥ ४३ ॥

यदि धातु नहीं देना चाहते हैं तो (नगर से बाहर निकल कर) द्वार पर आकर स्थित वीर अतिथियों का वीर कर्म से स्वागत करें ॥ ४३ ॥

राज्ञामेष तु संदेशो धैर्यसौहार्दसंयुतः ।
उक्तो मया ममाप्यग्रे सद्वचः श्रृणुताधुना ॥ ४४ ॥

राजाओं का यह धीरता एवं मित्रता से मिश्रित सन्देश है जो मैंने सुनाया। अब इसके आगे मेरा भी कुछ सद्वचन सुनें—॥ ४४ ॥

न सुखं न च वै धर्मो जायते कलहात्क्वचित् ।
उपदेशं क्षमायास्तु मुनिश्चापि ददौ सदा ॥ ४५ ॥

कलह से न तो सुख मिलता है और न धर्म ही होता है। मुनि ने भी सदा क्षमा का ही उपदेश दिया है ॥ ४५ ॥

लोके कामाय वाऽर्थाय युध्यन्ते भुवि मानवाः ।
ये तु धर्माश्रिताश्चार्या द्वौ विरुद्धौ तु तन्मते ॥ ४६ ॥

संसार में मनुष्य प्रायः काम के लिये अथवा अर्थ के लिये युद्ध करते हैं। जिन आर्यों ने धर्म का आश्रय लिया है, उनके मत से ये दोनों विपरीत हैं ॥४६॥

लब्धशान्तिः परस्मै च गौतमः शान्तिमादिशत् ।
दयालोस्तस्य पूजार्थं कदनं मा नृणां कृथाः ॥ ४७ ॥

जिन मुनि ने (स्वयं) शान्ति प्राप्ति की तथा दूसरों को (भी) शान्ति प्रदान की, उन दयालु मुनि की पूजा के निमित्त व्यर्थ का कदन (हिंसा) न करें ॥ ४७ ॥

यूयं धर्मयशोभाजो धातुदानाद्भविष्यथ ।
ते मित्राणि भविष्यन्ति शमं चैष्यन्ति मानवाः ॥ ४८ ॥

उन्हें धातु प्रदान करने से आप लोग धर्म और यश के भागी होंगे। सब राजा आपके मित्र बन जावेंगे तथा जनता को शान्ति मिलेगी ॥ ४८ ॥

धर्मच्युता हि धर्मेण योजनीयाः प्रयत्नतः ।
एवं कुर्वन्ति ये धीरास्ते धर्मस्य हि भाजनम् ॥ ४९ ॥

धर्म से विमुख प्राणियों को प्रयत्न करके धर्म से जोड़ना चाहिये। जो धीर पुरुष ऐसा करते हैं वे धर्म के भाजन होते हैं ॥ ४९ ॥

मुनिनोक्तं हि सद्धर्माज्ज्यायः किंचिन्न विद्यते।
सुलभा धनदातारो धर्मदाता सुदुर्लभः ॥ ५० ॥

मुनि का कहा हुआ सद्धर्म से श्रेष्ठ कोई नहीं है। धनदाता तो सुलभ हैं (किन्तु) धर्मदाता अत्यन्त दुर्लभ है।" ॥ ५० ॥

द्रोणाचार्येण तुल्यस्य सतो द्रोणस्य तद्वचः।
धर्म्यं यशस्यमाकर्ण्य ते तं होचुस्ततः परम् ॥ ५१ ॥

द्रोणाचार्य के समान विद्वान उस द्रोण ब्राह्मण का धर्मकारक और यशकारक वचन सुनने के बाद, वे मल्ल उससे बोले—॥ ५१ ॥

सन्मित्रस्येव ते ब्रह्मन्! वचो विप्रगुणान्वितम्।
व्यध्वगानिव दुर्वाहानस्मान्निन्यिथ सत्पथम् ॥ ५२ ॥

"हे ब्राह्मण! सन्मित्र के समान ब्राह्मण गुण से सम्पन्न आपका वचन है आप कुमार्ग में जाने वाले दुष्ट घोड़ों की तरह हम सबको, सत्पथ (सुन्दर मार्ग) पर ले आये हैं ॥ ५२ ॥

यथोक्तं भवताऽस्माभिरनुष्ठेयं तथा खलु।
मित्रवाक्यमनादृत्य विपद्भिरभिभूयते ॥ ५३ ॥

आपने जैसा कहा, निश्चित ही हम सब वैसा ही करेंगे। क्योंकि मित्र-वचन का अनादर करने वाले विपत्तियों से घिर जाते हैं ॥ ५३ ॥

अष्टधा तं विभज्यातो धातुं मल्ला मुनेः शुभम्।
एकैकशो ददुः सप्त ह्येकमाददिरे स्वयम् ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् मल्लों ने मुनि की उस मंगलमय धातु के आठ भाग करके, एक एक करके सात भाग तो सात राजाओं को दे दिये एवं आठवाँ भाग स्वयं ही रख लिया ॥ ५४ ॥

धातुमादाय संहृष्टाः स्वस्वदेशं समागताः।
तत्र तत्र पुरे स्तूपं धात्वर्थं निर्ममुर्नृपाः ॥ ५५ ॥

धातु लेकर प्रसन्न हुए राजा अपने अपने देश लौट गये। वहाँ (अपने) नगर में उस धातु के लिये (उन राजाओं ने स्तूप) बनवाये ॥ ५५ ॥

स्तूपार्थं च निजे देशे घटं द्रोणः समाददे।
पिसलाश्च मुनेर्भक्त्या निन्युर्भस्मैव केवलम् ॥ ५६ ॥

अपने देश में स्तूप बनाने के लिये द्रोण ने केवल घट ले लिया, तथा पिसल, मुनि के भक्ति होने के कारण, बची हुई केवल भस्म ही ले गये ॥ ५६ ॥

स्तूपानि धातुगर्भाणि चाष्टावासन् महीतले।
नवमं घटगर्भं च दशमं भस्मनोऽभवत् ॥ ५७ ॥

इस तरह पृथ्वी पर धातुगर्भित आठ, घटगर्भित एक-नवां, भस्मगर्भित एक-दसवाँ (ये) स्तूप बने ॥ ५७ ॥

राजानः सह सामन्तैर्भूदेवाः सह बान्धवैः।
प्रजाश्च केतुभी रम्याञ्छुभ्रान्स्तूपानपूपुजन् ॥ ५८ ॥

केतु से मनोहर एवं उज्ज्वल स्तूपों को, सामन्तों सहित सब राजा, बन्धु-बान्धवों सहित ब्राह्मण एवं प्रजाजन पूजने लगे ॥ ५८ ॥

जज्वलुः सततं दीपा नेदुर्घण्टा अहर्निशम्।
स्तोत्रैरुपासनां चक्रुर्नृपा माल्यैः सुगन्धिभिः ॥ ५९ ॥

वहाँ (स्तूप) पर अखण्ड ज्योति जलने लगी। दिन-रात घण्टा बजने लगे। राजा गण, गंध पुष्प माला आदि से पूजा करके स्तोत्र पठन करने लगे ॥ ५९ ॥

ततो गच्छत्सु कालेषु पञ्चशैलाङ्किते पुरे।
आजग्मुरेकदा साकं तत्र पञ्चशतार्हताः ॥ ६० ॥

तब कुछ काल बीतने पर पाँच पर्वतों के मध्य स्थित नगर में एक दिन पाँच सौ बौद्ध भिक्षु एक साथ आये ॥ ६० ॥

धर्मं भृशं दृढीकर्त्तुमुपदेशान्मुनेस्ततः।
पर्वतोपरि संगम्य संचिक्युस्ते समाहिताः ॥ ६१ ॥

तब धर्म को स्थायी बनाने के उद्देश्य से सब भिक्षुओं ने पर्वत के ऊपर सम्मिलित होकर, बड़ी सावधानी से मुनि के उपदेशों का संग्रह किया ॥ ६१ ॥

आनन्द एव शुश्राव सर्वान् धर्मान्मुनेर्मुखात्।
इति निश्चित्य ते सर्वे तं पुनर्वक्तुमादिशन् ॥ ६२ ॥

'आनन्द ने ही साक्षात् मुनि के मुख से सब धर्मों का श्रवण किया है'—इस प्रकार निश्चय करके, सबने उस (आनन्द) को (वे सब उपदेश) दुहराने के लिये (पुनः कहेने के लिये) कहा ॥ ६२ ॥

उपविश्य ततस्तत्र तेन सर्वं यथाश्रुतम्।
प्रसङ्गः समयः स्थानं व्याख्यातं च यथाक्रमम् ॥ ६३ ॥

तब उस आनन्द ने जिस प्रकार (भगवान बुद्ध से) सुना था—ज्यों का त्यों क्रमशः प्रसंग, समय तथा स्थान आदि सबका, वहाँ बैठकर प्रवचन किया ॥

धर्मशास्त्रं मुनेश्चैव महद्भिः सह निश्चितम् ।
तस्य ज्ञानेन शोकान्तं याता यास्यन्ति वै जनाः ॥ ६४ ॥

इस तरह आनन्द ने अर्हतों (बौद्धभिक्षुओं) के साथ मिलकर मुनि का धर्म-शास्त्र निश्चित किया । उसके ज्ञान से लोग शोक (रूपी सागर) के पार हो गये, हो रहे हैं (तथा) हो जावेंगे ॥ ६४ ॥

ततो धर्मप्रियोऽशोको बभूव प्रियदर्शनः ।
विशोकान् सज्जनान् दुष्टान् सशोकान् कृतवानसौ ॥ ६५ ॥

तब कालान्तर में धर्म-प्रिय प्रियदर्शन अशोक का जन्म हुआ, जिसने सज्जनों को शोकरहित तथा दुर्जनों को शोक सहित कर दिया ॥ ६५ ॥

स्तूपांश्चकार सर्वत्र मौर्यो जनहिताय सः ।
चण्डाशोकादतो धर्मराजोऽशोकोऽभवत्खलु ॥ ६६ ॥

उस मौर्य (अशोक) ने जनहित के लिये बहुत से स्तूप बनवाये । अतः वह चण्डाशोक से धर्मराज अशोक कहलाने लगा ॥ ६६ ॥

स्तूपेभ्यः सप्तसंख्येभ्यो धातूनादाय वै मुनेः ।
मौर्यवंशप्रदीपोऽसौ विभेजेऽनेकशो वशी ॥ ६७ ॥

मौर्य वंश के प्रदीप जितेन्द्रिय उस अशोक ने सात धातु गर्भित स्तूपों से मुनि की धातु लेकर अनेक विभाग किये ॥ ६७ ॥

अशीतिषु सहस्रेषु स्तूपेषु धवलेषु तान् ।
क्रमात्संस्थापयामास चैकस्मिन् दिवसे कृती ॥ ६८ ॥

कुशल अशोक ने विभाजित धातुओं को एक दिन के अन्दर अस्सी हजार स्तूपों में क्रमशः स्थापित किया ॥ ६८ ॥

आसीन्महात्मनः स्तूपो मुख्यो रामपुरेऽष्टमः ।
विश्वस्तै रक्षितो नागैर्नादातुमशकत्ततः ॥ ६९ ॥

इस रामपुर में महातमा बुद्ध का आठवाँ मुख्य स्तूप था । विश्वासी नागों (सर्पों) के द्वारा उसकी रक्षा होती थी। अतः उसमें से (कोई भी) धातु नहीं ले सका ॥ ६९ ॥

सत्सु राज्योपभोगेषु चित्तविभ्रमहेतुषु ।
स लेभे चोत्तमं लाभं शुद्धचित्तो गृहे वसन् ॥ ७० ॥

चित्त के विभ्रम हेतु, राज्य के विविध सुखोपभोग होने पर भी, घर में रहते हुए, विशुद्ध चित्त अशोक ने उत्तम धर्मलाभ किया ॥ ७० ॥

एवं मुनिं तु यः कोऽपि चानर्चार्चति चार्चिता ।
स लेभे लभते चापि लप्स्यते चोत्तमं फलम् ।। ७१ ।।

इस प्रकार जिस किसी ने भी मुनि का पूजन किया, करता है (तथा) करेगा; वह अवश्य उत्तम फल (क्रमशः) पाया था, पाता है (तथा) पायेगा ।। ७१ ।।

जीवितं च मुनिं नत्वा यत्फलं लेभिरे जनाः ।
तत्फलं धातुपूजातो लप्स्यन्ते नात्र संशयः ।। ७२ ।।

जीवित मुनि को नमस्कार करके लोग जो फल पाते थे; वही फल (मुनि की) धातु की पूजा से पावेंगे—इसमें संशय नहीं है ।। ७२ ।।

अतः परमधर्मस्य ज्ञातारं चाव्ययस्य वै ।
श्रद्धया परया बुद्धं भूमावर्चन्तु मानवाः ।। ७३ ।।

अतः अव्यय तथा परम धर्म के ज्ञाता बुद्ध की परम श्रद्धा से मनुष्य पृथ्वी पर पूजें ।। ७३ ।।

दीनाः समुद्धृता येन मार्गो धर्मस्य शोधितः ।
कृतज्ञाः किन्न चार्चन्तु बुद्धं लोकहिते रतम् ।। ७४ ।।

जिसने दीनों का उद्धार किया, तथा धर्म का मार्ग शोधा—ऐसे लोक कल्याण में रत बुद्ध को, कृतज्ञ लोग क्यों न पूजें ? ।। ७४ ।।

कोऽन्यो हि तादृशः पूज्यो येन जन्मजराकृतम् ।
स्वर्गाच्च पतनाद्दुःखं विश्वस्य परिलक्षितम् ।। ७५ ।।

जिसने विश्व के जन्म, वृद्धावस्था से जनित दुःख एवं स्वर्ग से पतन के दुःख को समझा—उस बुद्ध के समान दूसरा पूज्य, संसार में कौन है ? ।। ७५ ।।

कोऽन्यो हि तादृशः पूज्यो येन मुक्तेन मोचिताः ।
पुनर्भवान्महादुःखात्प्राणिनः सततं भुवि ।। ७६ ।।

जिसने संसार में पुनर्जन्मरूप महान दुःख से स्वयं मुक्त होकर, निरन्तर अन्य प्राणियों को मुक्त किया—उस बुद्ध के समान पूज्य दूसरा कौन है ।। ७६ ।।

पठनाच्छ्रवणात्तस्य चरितस्य महामुनेः ।
जनाः पुनर्भवाद्दुःखाद्विमोक्ष्यन्ति न संशयः ।। ७७ ।।

महामुनि के चरित्र का पठन एवं श्रवण से मनुष्य, पुनर्भवरूप दुःख से मुक्त होंगे—इसमें सन्देह नहीं ।। ७७ ।।

बुद्धानुरागादनुगम्य तस्य
शास्त्रं च लोकस्य हिताय शान्त्यै ।
काव्यं कृतं ज्ञापयितुं निजस्य
कलां न काव्यस्य च कोविदत्वम् ॥ ७८ ॥

इति श्रीरामचन्द्रदासकृते उत्तरबुद्धचरितमहा-
काव्ये "धातुविभाजनम्" नाम
अष्टाविंशः सर्गः समाप्तः

बुद्ध के शास्त्र का अनुसरण करके बुद्ध में अनुराग के कारण, लोक के हित एवं शान्ति के लिये यह काव्य रचा गया है; न कि काव्य की कला अथवा पाण्डित्य बताने के लिये ॥ ७८ ॥

यह श्रीरामचन्द्रदासकृत बुद्धचरितमहाकाव्य में
"धातुविभाजन" नामक अट्ठाईसवाँ
सर्ग समाप्त हुआ

बुद्धचरित : शब्दानुक्रमणिका

अज—दशरथ के पिता
अशोक—राजा
अपलाप—सर्प
अंगुलीमाल—ब्राह्मण
अंधक—देश
अंगदक—पञ्चपर्वत के ग्रामीण
अर्णस्—जल
अलकावती—नगरी
अजातशत्रु—राजा
अभय—राजा
अनिरुद्ध—राजकुमार
अनाथपिण्ड—भिक्षु
अर्हन्—योग्य, त्रिकालमुक्त पुरुष
अश्वजित्—भिक्षु
अत्रिमुनि—दत्तात्रेय के पिता
अर्चिता—अर्च् (लुट्)
आजुह्व—जुह् (आङ् उपसर्ग)
आम्रपाली—वेश्या
आनन्द—प्रमुख-शिष्य
आटविक—वनमानुष
आभिगाथ—ग्रन्थविशेष
औरुविल्व—उरुविल्व की सन्तान
इन्द्र—देवराज
उत्तर—लिच्छवि जातिविशेष के राजा
उत्तरा—कौशाम्बीवासी
उवाप—वप् (वपने) लिट्
उपनन्द—राजकुमार
ऐलि—योद्धा राजा
कपिल—ब्राह्मण

कापिलेय—कपिलशास्त्रानुगामी, उपतिष्य
कपिलवस्तु—नगरी
करंधम—राजा
कल्माषदम्य—नगर
काश्यप—कश्यपगोत्रज
कात्यायन—कात्यायन ऋषि
कालक—वनवासी
कुलपुत्र—धनिक-पुत्र
कुब्जा—कौशाम्बीवासी
कुशपुर—नगर
कुम्भार—वनवासी
कूटदत्त—वन
क्रूरकर्मा—वनवासी
कृमिल—राजकुमार
क्रकच—आरी
क्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग एवं द्वेष तथा अभिनिवेश
केन्य—ब्राह्मण
कृशाश्व—राजा
कौशाम्बी—नगर
कौरव—दुर्योधनादि
खर—यक्ष
गतिमान्—राजा
गय—काश्यपानुज
गाधिपुत्र—विश्वामित्र
गांधार—नगर
चतुर्विंशतितत्त्वम्—पञ्चमहाभूत, पञ्चतन्मात्र, दश इन्द्रियां, ३ अन्तःकरण, १ मूलप्रकृति

ययाति—चन्द्रवंशी राजा
वसु—राजा
वशिष्ठ—ब्रह्मापुत्र
वर्षकार—मंत्री
वरण—यक्ष
वाष्प—भिक्षु
वारण—यक्ष
वेणुकंटक—वन
वैशाली—नगर
विपुल—पर्वत
विरंजा—नगरी
वितना—तनु विस्तारे लट्
विभेजे—भिज् लिट्
वृष्णिः—यादव
व्यध्वग—वि + अध्वग, पंथी
राम—दशरथपुत्र
राहुल—सिद्धार्थपुत्र
रावण—लंकाधिपति
राष्ट्रपाल=धनिकपुत्र
लिच्छवि—जातिविशेष
हस्तक—वनमानुष
हर्यश्व—सूर्यवंश
हेमवत—यक्ष
सम्यक् दृष्टि—अनात्मवाद
सत्यक—विशेष राजा, लिच्छवि वंश के

सम्भिय—जातिविशेष
सर्वज्ञ—बुद्ध
संवेग—वैराग्य
संचिक्यु—चिञ् चयने लिट्
सांख्य—कपिलशास्त्र
सातागिर—यक्ष
सुदत्त—कौसलेय सेठ
सौदारा—चाण्डाल क्रूर
सौगत—बुद्धधर्म
सिंह (लिच्छवि)—लिच्छवि जाति का सेनापति
सीता—वैदेही
स्थाणुमती—नगरी
स्तवकर्णी—सेठ
शतदेव—१०० देव
श्रीगुप्त—द्वैतवादी राजा
श्वेत—नाग
श्रेष्ठ=नाग
शैल—ब्राह्मण तपस्वी
शैतविक—यक्ष
शूर—पंचपर्वत का ग्रामीण
शूचीलोम—यक्ष
शूर्पारक—नगर
टंकित—गुफा में तपस्या करने वाला
क्षेत्रज्ञ—आत्मा

दार्शनिक परिभाषायें

आष्टाङ्गिक योग :—सम्यक्‌दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

१. सम्यक् दृष्टि :—दिव्यदृष्टि, यथार्थानुभव, संशय-विपर्यय से रहित ज्ञान। (तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं)।

२. सम्यक् संकल्प :—सत्संकल्प, कामक्रोधादि का उद्भव जिस विचार में न हो।

३. सम्यक् वाणी :—मिथ्या, कटु, अहितकरादि, दोषरहित, सत्यप्रिय, हितकरादि गुणों से युक्त तथा सामयिक एवं परिमित वाणी।

४. सम्यक् कर्मान्त :—अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा तप।

५. सम्यक् आजीविका :—मद्यमांसादि, दूषित वस्तु का व्यापार तथा पर अहित से जीवन निर्वाह न करना। विशुद्ध स्वपुरुषार्थ से जीवन व्यतीत करना।

६. सम्यक् व्यायाम :—सत्प्रयत्न, जिन प्रयत्नों से काम क्रोधादि दोष क्षीण होकर विशुद्ध निर्मल विचार का उद्‌गम हो।

७. सम्यक् स्मृति :—यथार्थ स्मृति, पूर्वानुभव का निरन्तर जागरूक रहना। अमुक समय अमुक कर्म से सुख या दु:ख हुआ था, उसका ज्ञान रखना।

८. सम्यक् समाधि :—चित्त की एकाग्रता। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, निरुद्ध इन चार अवस्थाओं से आगे पाँचवीं चित्त की अवस्था, एकाग्रता।

संयोजन :—रूप-रसादि पाँच गुण तथा चक्षुरादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, दस बन्धन हैं।

अर्हन् :—१५।३ त्रिकालमुक्त पुरुष (बुद्ध) सं०।

क्लेश :—१५।९ अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पाँच हैं। १५।११ अनित्य को नित्य, अशुचि को शुचि, दु:ख को सुख तथा अनात्मा को आत्मा मानना अविद्या है।

द्रष्टा और दृश्य को एक मानना अस्मिता है। सुख भोग के बाद सुख भोगने की लालसा बनी रहना राग है। दु:ख भोगने के बाद दु:ख की अनुभूति शेष रहना द्वेष है। मृत्यु का भय होना अभिनिवेश है।

मृगदाव :—१५।१९ बौद्धालय, सारनाथ।

मध्यम मार्ग :—१५।४५ तप और भोग के बीच का मार्ग, अष्टाङ्ग योग।

आर्यसत्य :—१५।५६, ५८ दुःख, दुःख का नाश, दुःख का कारण, दुःख नाश का उपाय ये चार हैं। हेयं दुःखमनागतम्। द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेतुः। तस्य हेतुरविद्या तदभावात्संयोगाभावो हानम्। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।

निरोध :—१५।५२, ५३ व ५५ दुःख का नाश, हान, अविद्या का अभाव।

अर्हता :—१६।१८ बोध प्राप्ति, त्रिकालमुक्तता।

उपादान :—१६।६० जगत्-जन्म का मूल कारण।

मिथ्यादृष्टि :—१६।७७ आत्मा है, मरने के बाद आत्मा रहती है ऐसा विश्वास है।

सम्यग् दृष्टि :—१६।७७ आष्टाङ्गिक मार्ग की व्याख्या में देखिये।

आदेशक :—१६।८९ निर्देशक जिसके निर्देशन में जीव या जगत् का जन्म होता है।

वेदन :—१६।९० चेतन, अनुभव करने वाला या अनुभव (जैसे मादक द्रव्यों के परस्पर सम्मिश्रण से मादकता उत्पन्न होती है या पान, सुपारी, चूना, कत्था के सम्मिश्रण से लालिमा उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि के संयोग से चेतना या वेदना उत्पन्न होती है।)

षडक्ष :—१६।९० शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वेदन।

भाव :—१७।८ भवनशील (उत्पन्न होनेवाले) पदार्थ, चराचर विश्व।

कारण :—१७।८ तृष्णा, भोगेच्छा आदि दोष।

मार्ग :—१७।८ मुक्ति का साधन (विवेक ख्याति)।

चतुर्विंशति तत्त्व :—१७।१२ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ; पाँच महाभूत, पाँच तन्मात्रायें, तीन अन्तःकरण और एक मूल प्रकृति।

कापिलेय मत :—१७।१५ प्रकृतिपुरुषवाद, द्वैतवाद (सांख्यशास्त्र)।

बौद्ध मत :—१७।१६ अनात्मवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद, क्षणिकवाद।

चैत्य :—१७।२६ बौद्धालय, मठ।

आस्रव :—१७।४३ कामास्रव, भवास्रव, दृष्टयास्रव, अविद्यास्रव, ये चार हैं।
पुत्रैषणा—(पुत्र परिवारादि की इच्छा कामास्रव कहलाती है।
लोकेषणा—यश, प्रताप, विजय, ऐश्वर्यादि की इच्छा भवास्रव है।
वित्तैषणा—धन, सम्पत्ति, वैभव, बलादि की इच्छा दृष्टयास्रव हैं।

ये तीनों कर्मज हैं। अज्ञान और मूढ़ता अविद्यास्रव हैं और यह स्वभावज है।

ईशमत :—१८।३० ईश्वरवाद, ईश्वर जगत् का कर्ता है। ऐसा सिद्धान्त।

स्वभाववाद :—१८।३० जगत् का कर्ता कोई नहीं है, स्वभाव से अपने आप जगत् बनता-मिटता है।

काल :—१८।४३ (कालवाद) काल से परे कुछ नहीं, काल से जगत् बनता-मिटता है। ऐसा मत।

अकारणवाद :—१८।५० जगत् बनाने या बनने का कोई कारण नहीं है। यह विना कारण यों ही बनता-मिटता रहता है

अरूपा :—२०।४८ शरीररहित देवता।

निर्वाण :—२०।४९ जीवनमुक्ति, त्रिकालमुक्ति, रूपासक्ति से सदा मुक्ति।

जीवलोक :—२२।४४ संसार जिसमें जीव आकर जन्म लेते हैं।

शील :—२३।१८, २६।३४ सदाचार (हिंसा, चोरी, मिथ्याभाषण, व्यभिचार और मद्यपान इन पाँचों का त्याग करना) ये गृहस्थ एवं विरक्त, दोनों के लिये आवश्यक है। रात्रिभोजन, शृङ्गारचेष्टा, शृङ्गारवेश, शारीरिक सुख तथा धनार्जन, इन पाँचों का त्याग केवल विरक्तों के लिए है।

मुक्तायुष् :—२३।७५ जन्म का कारण तृष्णा आदि दोष क्षीण हो जाने से आयु नहीं रहती है।

स्कन्ध :—२४।२५ रूप (शरीर), वेदना (चेतना), संज्ञा (पाँच ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषयों के संयोग होने पर विषयों की अनुभूति), संस्कार (सुख या दुःख के भोगने के बाद चित्त में जो वासना रह जाती है), विज्ञान (बुद्धि) ये पाँच स्कन्ध हैं।

संवेग :—२४।२१ ग्लानि; वैराग्य।

द्वन्द्व :—२४।१५ सुख, दुःख, शीत, उष्ण, पाप-पुण्य इत्यादि संसार द्वन्द्व है।

श्रेय :—२४।२४ निर्वाण।

सन्मार्ग :—२६।३६ आध्यात्मिक मार्ग, सन्मार्ग।

समाधि :—२६।६७ समाधि के चार भेद हैं :—सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार। स्थूल विषयों की समाधि में पदार्थ के शब्द-अर्थ ज्ञान का भान जब तक रहता है तब तक सवितर्क समाधि कहलाती

है, और जब शब्द तथा ज्ञान का भान लीन हो जाता है केवल अर्थ मात्र की प्रतीति होती है तब निर्वितर्क समाधि कहलाती है। इसी प्रकार जब सूक्ष्म विषयों की समाधि में शब्द, अर्थ, ज्ञान का भान रहता है तब सविचार समाधि कहलाती है और जब केवल अर्थ मात्र की प्रतीति रहती है तथा निर्विचार समाधि कहलाती है।

प्रज्ञाचक्षुः—२६।७१ अध्यात्म दृष्टि, मल विक्षेप, आवरण इन तीन दोषों से रहित चित्त में दिव्य प्रकाश होना।

ध्यान :—२६।९४ वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, अस्मितानुगत। प्रथम में स्थूल जगत की समष्टि का एकत्वेन ज्ञान रहता है। द्वितीय में इन्द्रियों और अन्तःकरणादि सूक्ष्म जगत् का समष्टि रूप से एकत्वेन ज्ञान रहता है। तृतीय में मूल प्रकृति की समावस्था का ज्ञान रहता है। चतुर्थ में अस्मिता 'अहं अस्मि' (मैं हूँ) ऐसा एकमात्र बोध शेष रहता है। ये एक के बाद एक सूक्ष्म एवं उत्कृष्ट हैं।

योग :—२७।२५ चित्त की वृत्तियाँ, प्रमाण, विपर्यय विकल्प, निद्रा और स्मृति है। इनका पूर्ण रूपेण निरोध (लय होना) योग कहलाता है।

अष्ट प्रकृति :—२७।२६ पंचमहाभूत, मन, बुद्धि, अहंकार ये अष्ट प्रकृति हैं।

त्रिविध कर्म :—२७।२६ शुक्ल, कृष्ण और मिश्रित अर्थात् पुण्य, पाप और मिश्रित (मिला हुआ) तीन प्रकार के कर्म हैं।

त्रिविध दृष्टि :—२७।२७ युष्मत्, अस्मत् तथा तत् का तुम, हम और वह अर्थ होता है। इन तीनों को पृथक् जानना त्रिविध दृष्टि है।

श्लोकानुक्रमणिका